'कामायनी'-अनुशीलन

लेखक

डॉ० रामलाल सिंह एम० ए०, पी० एच डी०, 'साहित्यरत्न'

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

चतुर्थ संस्करण] सं० २०१५ (१९५८ ई०) [मूल्य ४

प्रकाशक
बी० एन० माथुर,
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स), प्राइवेट, लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

मुद्रक
अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, प्राइवेट, लिमिटेड,
वाराणसी-शाखा ।

समर्पण-पत्र

मातृभाषा प्रसादेन मातृपुण्य प्रसादत ।
प्रणीत पुस्तकम् मात तव पुत्रेण यत्नत.॥
पूजाविधिविमूढेन दीनहीनेन सूनुना ।
तन्मात्रमर्घ्यरूपेण रामलालेन दीयते ॥
मातुश्चरणयोर्भक्त्या प्रणम्येति पुन'पुन ।
प्रार्थ्यते कृपया देवि गृहाण पुत्रवत्सले ॥

"चेतना का सुन्दर इतिहास,
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।"

—'कामायनी'

दो शब्द

'कामायनी-अनुशीलन' सागर-विश्वविद्यालय के हमारे सहयोगी प्राध्यापक श्री रामलाल सिंह जी की नवीन पुस्तक है। आरम्भ में यह काशी-विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए लिखा गया प्रबन्ध था, पर वर्तमान रूप में यह मूल प्रबन्ध से दूने से भी अधिक आकार की कृति हो गई है। संयोग वश उनकी इस रचना से मेरा सम्बन्ध उस समय भी था जब यह एम० ए० परीक्षा के प्रबन्ध रूप में प्रस्तुत की गई थी, और वर्तमान परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप में भी यह मेरे दृष्टि-पथ से पार हुई है। कदाचित् इसी लिए मुझ पर इस पुस्तक के लिए दो शब्द लिखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है, और इसी लिए यह कार्य मैंने सहर्ष स्वीकार भी किया है।

'कामायनी-अनुशीलन' प्रसादजी के प्रख्यात काव्य ग्रन्थ 'कामायनी' की व्यापक और सर्वाङ्गीण समीक्षा प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखता है, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लेखक ने भरपूर उद्योग किया है। इसमें कृति के ऐतिहासिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न पक्षों का तार्किक ढंग से विवेचन किया गया है। उन अनेक आकर ग्रन्थों का अध्ययन जिनसे 'कामायनी' काव्य का आख्यान और उसकी दार्शनिक सामग्री ली गई है, लेखक ने मनोयोग पूर्वक किया है और उस अध्ययन का समुचित संकलन तथा कुशलता पूर्वक उपयोग भी उसने किया है। 'कामायनी' का इतना विस्तृत और बहुमुखी अनुशीलन अब तक किसी अन्य समीक्षा कृति में नहीं किया गया।

'कामायनी' के अन्त साक्ष्य का भी लेखक ने अपने निबन्धों में विस्तार के साथ आकलन किया है और उक्त अन्त:साक्ष्य के आधार पर प्रसादजी के विभिन्न दार्शनिक मतों और आदर्शों का ऐसा विस्तृत निरूपण किया गया है जो अपनी प्रामाणिकता में अकाट्य है। प्रसाद के विचारों और धारणाओं के अध्ययन के लिए इस पुस्तक में परिपूर्ण सामग्री मिल जाती है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में कामायनी के काव्य-सौन्दर्य, मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा दार्शनिक तत्व का भी अच्छा उद्‌घाटन किया गया है।

लेखक ने 'कामायनी' काव्य के मूल स्रोतों और उसकी अन्तर्वर्ती सामग्री का सचय और उसके काव्य गुणों का परिदर्शन ही नहीं किया है, उसने उन सबको लेकर एक स्वतन्त्र और सुसम्बद्ध कृति इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर दी है। यह कार्य कदाचित् सबसे अधिक कठिन और साथ ही महत्त्वपूर्ण था। 'कामायनी' के विभिन्न आधार ग्रन्थों का आलोड़न और उसके शरीर भाग में उपलब्ध होने वाली सामग्री की शोध आवश्यक और उपादेय कार्य हैं, किन्तु उनसे भी अधिक महत्त्व है एक सुसम्बद्ध और आदि से अन्त तक सुपाठ्य रचना में उस समस्त सामग्री का यथास्थान ग्रहण और यथोचित चयन। बिना इसके पुस्तक शोध की कृति कहला सकती थी, पर विवेचनात्मक और स्वतन्त्र रचना नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कृति का मूल्य शोधात्मक तथा रचनात्मक दोनों दृष्टियों से है। मेरी दृष्टि में लेखक के इस चयन-कौशल और प्रबन्ध रूप में यथास्थान सम्पूर्ण सामग्री के आकलन तथा स्थापन का सबसे अधिक महत्व है, और इस कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए लेखक निश्चय ही हम सबके साधुवाद का अधिकारी है।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक 'प्रसाद-साहित्य' के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित करने के कारण आधुनिक समीक्षा-साहित्य में आदर का स्थान प्राप्त करेगी और प्रसादजी के साहित्यिक अध्ययन तथा विशेषतः कामायनी के अनुशीलन के लिए यह सर्वथा अनिवार्य सिद्ध होगी।

नन्ददुलारे वाजपेयी
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
(सागर विश्वविद्यालय)

२०–११–५०]

'कामायनी अनुशीलन'

'कामायनी' हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ विचारक कवि श्री जयशकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति है। पाठकों के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य की यह सबसे कठिन पुस्तक है। 'कामायनी' को समझाने के लिए या सरल करने के लिए अथवा उसका ठीक-ठीक आस्वादन या मूल्याङ्कन करने के लिए इधर हिन्दी म कई समीक्षा पुस्तके निकली हैं। उदाहरणार्थ, 'कामायनी का सरल अध्ययन, कामायनी-विवेचन, कामायनी-सौन्दर्य, कामायनी का आलोचनात्मक अध्ययन, कामायनी एक परिचय तथा कामायनी अनुशीलन। किन्तु अन्तिम पुस्तक को छोड़कर अन्य किसी म भी ठीक ठिकाने से चलनेवाली वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति का अनुसरण नहीं हुआ है। किसी मे टीका पद्धति का अवलम्बन है तो किसी म भाष्य पद्धति का प्रयोग। किसी मे निर्णयात्मक पद्धति से कामायनी के महाकाव्यत्व को परखने का प्रयत्न किया गया है, तो किसी में काव्य के कुछ अशो को उद्धृत करके उनकी मनमानी व्याख्या की गई है जिससे कृति के सौन्दर्य, गुण, दोष को कौन कहे, उसके वर्ण्य-विषय का भी पूरा बोध नही होता। किसी ने प्रभावाभिव्यजक शैली का आश्रय लेकर अपने ऊपर पड़े हुए उस कृति के प्रभाव या प्रतिक्रिया का वर्णन किया है, तो किसी ने कवि के कुछ शब्दो या वाक्यखण्डों को लेकर, तदनन्तर उसमे कुछ अपने शब्दो को जोड़कर काव्यात्मक शैली म कवि की ही बातों को दुहराने का प्रयत्न किया है। यदि किसी आलोचक की पकड़ म कृति का कोई तत्त्व कहीं आ भी गया है तो लेखक केवल

उसका उल्लेख मात्र करके आगे बढ गया है। तार्किक ढग से उस तत्त्व के विश्लेषण मे उसके सौन्दर्य या असौन्दर्य की मीमासा मे उसका मन नहीं रमा है। उक्त पुस्तका के समीक्षक कृति के साङ्गोपाङ्ग विवेचन मे, कृतिकार की अन्तर्वृत्ति की छानबीन म, उसकी रचना-प्रक्रिया के वैज्ञानिक विश्लेषण मे अथवा अपने निजी सिद्धान्त-स्थापन एव उसकी पुष्टि मे सफल नही हुए हैं। हर्ष का विषय है कि 'कामायनी अनुशीलन' जिसके लेखक श्री रामलाल सिह एम० ए०, बी० टी०, साहित्यरत्न, अध्यापक, सागर-विश्वविद्यालय हैं उक्त सभी समीक्षा-पुस्तकों के अभावो की पूर्ण करती है। 'कामायनी अनुशीलन' समीक्षा के सामान्य तथा विशिष्ट— सभी उद्देश्यो की पूति मे सफल उतरती है। समीक्षा के सामान्य अर्थ की दृष्टि से यह पुस्तक कामायनी सम्बन्धी ज्ञातव्य विषयो का विवेचन प्रस्तुत करती हुई उन अर्था का सग्रह भी करती है जो उस रचना के सम्बन्ध म अवान्तर से प्राप्त होते हैं।

"कामायनी अनुशीलन" के अध्यायो—कथानको कामायनी का ऐतिहासिक तत्त्व, कामायनी मे प्रकृति वर्णन, चरित्र-चित्रण, भाषा तथा भावाभिव्यक्ति, छन्द-विधान, रस-सचार, कामायनी का मनरतत्त्व, कामायनी का दार्शनिक तथ्य, युग की अभिव्यक्ति, कामायनी मे काम का स्वरूप, कामायनी म प्रेम-निरूपण, कामायनी मे कर्म का स्वरूप, कामायनी म नियति का स्वरूप, कामायनी मे भारतीय सस्कृति की अभिव्यक्ति, कामायनी म प्रसाद का व्यक्तित्व, कामायनी का महाकाव्यत्व पढने से ही ज्ञात हो जाता है कि समीक्षक ने कामायनी पर साहित्यिक ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिकी, सामाजिक, सास्कृतिक आदि सभी दृष्टियों से विचार किया है। पुस्तक के आरम्भ म लेखक के द्वारा

ही लिखी हुई छोटी किन्तु बहुत ही सारगर्भित प्रस्तावना है, जिसम समीक्षक ने अपने समीक्षा सिद्धान्तो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अगले अध्याया म आलोच्य कृति इन्ही सिद्धान्तो की कसोटी पर परखी गई है। समीक्षक ने अपने समीक्षा-सिद्धान्तो के निर्माण म पर-प्रत्यय से काम नही लिया है वरन् आत्म प्रत्यय से अपनी समीक्षा का पथ तैयार किया है जिसमे आलोचक के सभी प्रकार के दायित्वो का निर्वाह मिलता है। आलोचक ने अपनी आलोचना का स्वरूप खडा करने मे कृति-निर्माण म नियोजित जीवन तथा साहित्य के सभी उद्देश्यो, तत्त्वो, एव सिद्धान्तो के साथ सहानुभूति रखते हुए, भारतीय जीवन तथा साहित्य के स्थायी एव उत्कर्ष-विधायक गुणो का समावेश भी किया है। लेखक की प्रस्तावना तथा उसके आधार पर की हुई उसकी व्यावहारिक समीक्षा इस बात का प्रमाण दे रही है कि समीक्षक म सैद्धान्तिक निरूपण तथा व्यावहारिक समीक्षण दोनो प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान हैं।

विशिष्ट अर्थ म 'कामायनी अनुशीलन' कामायनी तथा प्रसादजी की उन विशेपताओं का तुलनात्मक रूप में विश्लेपण भी करती है जो उस कृति तथा उसके लेखक को उसी प्रकार की अन्य कृतियो तथा कृतिकारो से अधिक गौरव, महत्ता एव विशिष्टता प्रदान करती है।

समीक्षक ने कामायनी की समीक्षा करते समय कवि के उद्देश्य की रक्षा करते हुए साहित्य के स्थायी सस्कारो, सिद्धान्तो एव मान्यताओ की कही अवहेलना नहीं होने दी है। समीक्षक ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा मे कवि, साहित्य, जीवन एव पाठक सभी के प्रति अपने दायित्वा का सम्यक् रीति से सम्पादन किया

हैं। प्रधान रूप से समीक्षक ने इस कृति में विवेचनात्मक पद्धति का अवलम्बन लिया है किन्तु विषय प्रतिपादन में विशदता, स्पष्टता, वैज्ञानिकता एवं सरलता लाने के लिए यथास्थान सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक प्रभावात्मक एवं निर्णयात्मक पद्धति का भी समावेश किया है। इससे समीक्षक का दृष्टिकोण बहुत ही स्वस्थ तथा पूर्ण हो गया है।

समीक्षक ने प्रत्येक नये अध्याय के आरम्भ में ही नहीं वरन् प्रत्येक नवीन विशेषता के विवेचन के अवसर पर जीवन एवं साहित्य-सिद्धान्तों का सामान्य कथन के रूप में प्रयोग किया है जिनके प्रकाश में कृति की जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी सभी विशेषतायें निखर उठती हैं तथा वे पाठकों एवं साहित्य पारखियों की स्वीकृति को मुग्ध करके बाँध लेती हैं। लेखक ने यथावसर जिस प्रकार सामान्य कथन के आधार पर विशेष की पुष्टि की है उसी प्रकार विशेष के आधार पर सामान्य का निरूपण भी किया है। इससे समीक्षक की तथ्यग्रहण की दृष्टि एवं विवेचन की वैज्ञानिक बुद्धि का पता चलता है। विवेच्य विषय को सुस्पष्ट करने के लिए समीक्षक ने प्रत्येक अध्याय को कई भागों में विभाजित किया है। फिर उसने एक एक विभाग की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या की है। प्रत्येक विभाग के आरम्भ में लेखक कतिपय सूत्र-वाक्यों को कहता है फिर उनकी व्याख्या करता है तदनन्तर ग्रन्थ के उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि करता है। कहीं कहीं जल्दी में कुछ बात सूत्र रूप में कह कर ही छोड़ दी गई हैं। यदि लेखक ने रुक कर उनकी व्याख्या कर दी होती तो उसका प्रतिपादन पाठकों को अधिक बोधगम्य हो जाता। सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि समीक्षक की दृष्टि कृति अथवा कवि की विशेषताओं के उद्घाटन की ओर ही अधिक है। इसलिए कृति

या कवि में कुछ दूषण भी हैं तो लेखक ने अपनी तार्किक शैली द्वारा उन्हें भूषण बना दिया है।

(रेडियो के सौजन्य से)

राजनाथ पाण्डेय एम० ए०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
(सागर विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

(प्रथम संस्करण)

श्रद्धा हमारे जीवन की मातृ, धातृ तथा विधातृ रही है। मैने जीवन मे प्रयत्न, अभ्यास, विश्वास, आशा, शक्ति, ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा आनन्द का दर्शन श्रद्धा के रूप म किया है। श्रद्धा जीवन का वह परम तत्त्व है जिसके द्वारा परम सत्य का अखड दर्शन होता है। श्रद्धा के अभाव से हमारी भक्ति अन्धी, हमारा ज्ञान लॅगडा, हमारा कर्म पाखडी, हमारी वृत्ति व्यभिचारी, हमारी प्रवृत्ति दूषित एव हमारे प्रयत्न कलुषित हो जाते हैं। हमे बुद्धि गम्य, दृष्टि-गम्य तथा आत्म गम्य—किसी विषय पर विश्वास नहीं होता। अश्रद्धा घोर मोह-निद्रा, घोर अध.पतन तथा सर्वस्व नाश है। 'कामायनी'गत इसी 'श्रद्धा' के दर्शन ने 'कामायनी-अनुशीलन' का अकुर उत्पन्न किया। सर्वप्रथम गुरुदेव प० सीतारामजी चतुर्वेदी ने अपनी प्रेरणा द्वारा इसे प्ररोहित किया। तदनन्तर गुरुदेव प० केशवप्रसाद जी मिश्र ने अपने विद्वत्ता-पूर्ण मधुर अध्यापन द्वारा इसे पल्लवित किया। इसके पश्चात् गुरुदेव प० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने अपनी साहित्यिक मन्त्रणाओं द्वारा इसे वर्धित तथा पुष्पित किया। यहाँ तक इस पुस्तक का रूप एम० ए० परीक्षा के 'प्रबन्ध' रूप मे था। बाद को इसम 'ऐतिहासिक तत्त्व,' 'युग की अभिव्यक्ति' तथा परिशिष्टाश जोड़कर प्रस्तुत पुस्तक का रूप तैयार हुआ। इन परवर्ती अध्यायो मे तथा पहले भी गुरुदेव प० नन्द-दुलारे जी वाजपेयी से समय समय पर जो साहित्यिक सम्मतियाँ मिली, उनका ऋण नही चुकाया जा सकता। इसे प्रकाश म लाने का सर्वस्व श्रेय गुरुवर वाजपेयी जी को ही है। उपर्युक्त सभी गुरुदेवो की आभार-

स्वीकृति म धन्यवाद देना तुच्छ समझ कर मै उनका सादर अभिनन्दन करता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन जिन ग्रंथकारो तथा विद्वानो से प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार की सहायता मिली है, उनके प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

'कामायनी-अनुशीलन' का पथ प्रस्तावना मे मैने बता दिया है। अत. उसे दुहराने की आवश्यकता नही। यदि उस पथ से चलकर पाठको को 'कामायनी अनुशीलन' का दर्शन हो सका, तो मै अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

जिस प्रकार 'कामायनी' म प्रलय तथा सृष्टि, दोनो का कहानियाँ छिपी हैं, तदवत् 'कामायनी' का अनुशीलन भी मेरे जीवन के प्रलय तथा सृष्टि दोनो कालो म हुआ है। मेरे जीवन के प्रलय-काल ने ही इसे सृष्टिभूमि पर लाने म विलम्ब किया। प्रथम, मैसूर यात्रा मे 'अनुशीलन' की हस्तलिपि ही रेल मे खो गई थी जो आठ महीने पश्चात् मिली। अनन्तर कत्ल के एक मुकदम की पैरवी ने जीवन को इतना अस्त-व्यस्त बना दिया था कि मेरा साहित्यिक जगत् से साथ ही छूट गया था। इन्ही उपर्युक्त व्यस्तताओं के कारण पुस्तक का प्रकाशन ठीक समय पर न हो सका।

अन्त म इस पुस्तक म मुझसे जो भूले हुई हैं तथा जो अपराध बन पड़े हैं, उनकी क्षमा-याचना करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कृष्ण-जन्माष्टमी
मातृ-मन्दिर काशी।

रामलाल सिंह

वक्तव्य

(द्वितीय संस्करण)

प्रथम सस्करण की समाप्ति तथा नवीन सस्करण के प्रकाशन के अवसर पर मै 'कामायनी अनुशीलन' के पाठको के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। नवीन सस्करण मे पुराने अध्यायों म— विशेषत. प्रारम्भ के प्रथम तीन मे काफी परिवर्तन तथा परिवर्धन हुआ है। इसके अतिरिक्त 'परिशिष्ट' म पॉच नये अध्याय जोड़े गये हैं। इन नये अध्याया के जोडने से कही कही कुछ थोड़ी पुनरुक्ति हो गई है, किन्तु विषय की स्पष्टता के लिए उनका जोड़ना आवश्यक था। इन नये अध्यायों के अनुशीलन मे भी समय समय पर जो साहित्यिक सम्मतियाँ गुरुदेव प० नन्ददुलारे वाजपेयी जी से मिली, उनके लिए मै हृदय से उनका अभिवन्दन करता हूँ। पुस्तक काशी से छप रही थी और मै सागर मे था, इसलिए 'प्रूफ' सशोधन मेरे द्वारा न होने के कारण इसमे मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं, इनके लिए मै पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ। आशा करता हूँ कि वे शुद्धि-पत्र देख कर अशुद्धियो को सुधार लेगे।

शरद् पूर्णिमा
सम्वत् २००७
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

रामलाल सिंह

लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली अन्य रचनायें :—

(१) निबन्धकार शुक्ल जी
(२) क्रान्तिकारी कवि कबीर
(३) साहित्य-शिक्षण
(४) आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त
(५) भाषा-दर्शन
(६) शिक्षाव्रती महात्मा गान्धी

विषय-सूची

प्रस्तावना

साहित्य के विकास के साथ साथ उसका मानदण्ड भी विकसित होता रहता है। लक्षण ग्रन्थ जीवन की परिस्थितियों, समस्याओं तथा मूल्यो एव उनकी प्रेरणा से बने हुए लक्ष्य ग्रन्थो के आधार पर ही बना करते हैं। जीवन तथा लक्ष्य ग्रन्थो के स्वरूप म ज्यो-ज्यों अन्तर उपस्थित होगा त्यों-त्यों लक्षण ग्रन्थ भी परिवर्तित होते जायेंगे। भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों—अलकार, रीति, रस, औचित्य, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की स्थापना तदसम्बन्धी युग-विशेष के जीवन तथा लक्ष्य ग्रन्थों म परिवर्तन एव भिन्नता ही के कारण हुई है। उन विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापका एव अनुयायियो के लक्षण ग्रन्थों की भिन्नता तथा उनके काव्य समीक्षण की पद्धतियों के अन्तर के कारण, उनके युग-विशेष के परिवर्तित प्रकार के लक्ष्य-ग्रन्थों तथा जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों, समस्याओं एव प्रश्नो म खोजे जा सकते हैं, किसी निरपेक्ष या शून्य सत्ता मे नही। काव्यालकार, काव्यादर्श, अग्निपुराण, सरस्वतीकंठाभरण, साहित्यदर्पण आदि विभिन्न लक्षण ग्रन्थो मे महाकाव्य के लक्षण विभिन्न प्रकार के मिलते हैं। उक्त-लक्षण-ग्रन्थो मे महाकाव्य के लक्षणो या विशेषताओ की भिन्नता के कारण उन ग्रन्थों के लेखकों के युग-विशेष के विशिष्ट प्रकार के लक्ष्यग्रन्थ एव परिवर्तित जीवन-प्रश्न तथा परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें समझने के लिए वे लक्षण ग्रन्थ लिखे गये। वस्तुतः लक्षण-ग्रन्थ अथवा शास्त्र-ग्रन्थ किसी युग विशेष के लक्ष्य ग्रन्थ या जीवन विशेष को समझने मे सहायता पहुँचाने के लिए ही लिखे जाते हैं, साहित्य या जीवन को बाँधकर गतिहीन बनाने

के लिए नहीं। उपर्युक्त कथन का मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन तथा साहित्य के सभी तत्त्व, सिद्धांत तथा मूल्य परिवर्तनशील ही होते हैं या महाकाव्य के सभी लक्षण सदा बदलते ही रहते हैं। मेरे कहने का प्रयोजन इतना ही है कि जीवन तथा साहित्य—दोनों में कुछ स्थायी भावनाओं, कतिपय निरन्तर सत्यों तथा कुछ शाश्वत मूल्यों के सुनिश्चित तथा स्थिर रहते हुए भी युग की आवश्यकता तथा माँग के अनुसार उनमें नए नियम, उपनियम, कुछ नवीन आदर्श, मूल्य आदि आते रहते हैं, उनको व्यक्त करनेवाली पद्धतियाँ, रीतियाँ तथा उनके आस्वादन की प्रणालियाँ, परिवर्तित होती रहती हैं। तद्वत् महाकाव्य* के कुछ लक्षण, सिद्धांत, आदर्श आदि ऐसे हैं जिनके विषय में आचार्य लोग एक मत हैं, जिन्हें हम निश्चित या स्थिर मान सकते हैं, तथा कुछ लक्षण, नियम, उपनियम आदि ऐसे हैं जिनके विषय में आचार्यों की एक सम्मति नहीं है, जो समय समय पर युग तथा समाज एवं साहित्य के परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं, जिन्हे हम अनिश्चित† या गौण मान

---

* महाकाव्य के स्थायी तत्त्व —नायक या नायिका उदात्तत्व, मानव जीवन के सभी प्रतिनिधि भावों तथा अन्तर्वृत्तियों की उपस्थिति (इनके द्वारा मानव जीवन की यथासाध्य पूर्ण अभिव्यक्ति) कथानक का ऐतिहासिक आधार या सदाश्रयत्व, मानव जीवन में सर्वव्यापी भाव की महाकाव्य में प्रधानता, जीवन की महानतम वास्तविकता का चित्रण, चतुर्वर्ग फलप्राप्ति।

† महाकाव्य के गौण तत्त्व —सर्गों की संख्या तथा आकार, काव्य या सर्गों का नामकरण, मंगलाचरण, छन्द विधान, वर्ण्य विषय की विविधता।

सकते है। साहित्य के क्षेत्र म इस प्रकार के परिवर्तन या नवीन पद्धति, रीति, पन्थ आदि के नियामक कवियो का हमारे यहाँ सदा स सम्मान होता आया है*-

"अन्धारत कवयो येषा पन्था क्षुराणः परैभवत्।
परेषा तु पदाक्रान्त, पन्थास्त कविकुञ्जरा ॥

उक्त श्लोक म दूसरा क मार्ग पर चलने वाले कवि अन्धे कहे गये है एव अपने लिए नये मार्ग के नियामक कवि श्रेष्ठ एव माननीय माने गए है। साहित्य-क्षेत्र म इस नूतनता क समादर का उद्देश्य स्वच्छन्दता का प्रचार नहीं वरन् साहित्य के भाव-क्षेत्र तथा कलाक्षेत्र क सौंदर्य म नवीनता एव मालिकता के समावेश द्वारा उसे अत्यन्त व्यापक तथा विस्तृत बनाना है। साहित्य के इन्हीं नये पन्था, पद्धतियों, रीतिया, शैलियों, नियमा उपनियमो अभिव्यक्ति प्रणालियों आदि का निरूपण समय समय पर समालोचक किया करते हैं। आलोचक या समीक्षक का लक्ष्य जीवन तथा साहित्य का ऐसा नियन्त्रण करना है जिससे दोनो उत्तरोत्तर विकास क मार्ग पर अग्रसर होते रहे। यदि समीक्षक अनावश्यक प्राचीनता के त्याग एव आवश्यक नवीनता के ग्रहण मे अभिरुचि नहीं दिखलाएगा तो मौलिक कवि या लेखक साहित्य मे नूतनता लाने म सकोच करेगे और साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जायगा। अस्तु यदि कोई नया कृतिकार अपनी कृति मे परम्परा का पालन न कर रहा हो तो समालोचक को सबसे पहले यह देखना चाहिए कि वह प्रेरणा है किस पानी का, वह किस प्रकार की कृति का निर्माण करना चाहता है? उस नवीन कृति के निर्माण म उसका क्या उद्देश्य है। इन उपर्युक्त प्रारम्भिक बातो के ज्ञान क

---

* गगावतरण काव्य—१।१७

अभाव मे समीक्षक कृतिकार से सहानुभूति स्थापित नही कर सकता। सहानुभूति के अभाव म की हुई समीक्षा से दिमागी कसरत हो सकती है, जीवन या साहित्य के मूल्यों की परख या पहचान नहीं।

असाधारण प्रतिभा सम्पन्न कवि केवल परम्परागत रचना नहीं करता, वह साहित्य-क्षेत्र म नई-नई वीथियाँ भी बनाता चलता है, सामाजिक जीवन की गति विधि के अनुसार वह अपने साहित्य की रूप रेखा भी बदलता चलता है, युग की माँग एव आवश्यकता के अनुसार अपने काव्यों म जीवन के नये मूल्यों, मान्यताओं, एव आदर्शों का समावेश भी करता चलता है। ऐसे महान् कृतिकारों की कृतियों की समीक्षा का उद्देश्य उनके* नवीन रचना सौंदर्य क विधान की प्रक्रिया को विवृत करना है, कलाकार† द्वारा काव्यगत निरूपित जीवन के मूल्यों का पुनर्निर्माण करना है एव उनके साधन तथा साध्यो के साथ पूर्ण सहृदयता स्थापित करना है। साहित्य या समीक्षा के क्षेत्र म इस प्रकार की नवीनता के स्वागत अथवा समादार का अर्थ प्राचीनता का एक दम बहिष्कार नही है। मेरे उपर्युक्त निवचन का तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन कह कर किसी को सिर माथे रखना और नवीन कहकर किसी को निरख परख के बिना त्याग देना ठीक नही। बिना ठीक ठीक पहचान किये किसी का संग्रह या त्याग उचित नही है।

---

*Criticism is unfolding the aesthetic process.

†The critic recreates in the process of judgement what the artist has created

—The Bases of Criticism (88)

प्राचीनता एव नवीनता के सग्रह तथा त्याग के विषय में मालविकाग्नि-मित्र नाटक की प्रस्तावना म कालिदास ने जो कुछ कहा है वह समीक्षा का मानदण्ड होने योग्य है .—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ. परप्रत्ययनेय बुद्धि: ॥

समीक्षक को किसी कृति की परख के लिए तटस्थ* होना आवश्यक है क्याकि वह तटस्थ हुए बिना सत्समालोचना का पथ पकड़ नही सकता। आलोचक का काम कर्ता का वकील होना नही पाठक का सहायक होना है। वह जीवन तथा साहित्य दोना दृष्टियो से उसे रचना के श्रेय तथा प्रेय स्वरूप को समझाता है एव उसकी उद्वेगजनक बातो को बाह्य कह कर उन्हे लक्षित कराता है। तटस्थ† होने का अर्थ कृति से दूर ही दूर रहना नही है वरन् काव्य गत वर्णित सास्कृतिक तत्त्वो का निष्पक्ष दृष्टि से सचयन करना है जिससे विश्व सस्कृति अधिक से अधिक पूर्ण हो सके। काव्यानुशीलन‡ के निरन्तर अभ्यास से जिनका मन विस्तृत नही हुआ है, जिनम वर्णनीय विषय या वस्तु के

* Criticism is a disinterested endeavour.

—*Arnold*

† Critic will be disinterested in the sense that he will pursue only the ends of cultural perfection

— *Arnold*

‡ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसवादभाज सहृदया । लोचन (अभिनवगुप्त)

साथ तन्मय होने की क्षमता नहीं है, जिनमे कवि के हृदय-सवाद के ग्रहण की योग्यता नहीं हैं, वे कम से कम साहित्य क्षेत्र म समीक्षक बनने की कृपा न करे, और चाहे जो कुछ बने। क्योंकि जिन्हे काव्यानुशीलन का निरन्तर अभ्यास नहीं है वे अपनी रुचि, इच्छा, परम्परागत मान्यता अथवा अपने पूर्वग्रह आदि के सकुचित दायरे के भीतर ही अपनी नैसर्गिक अथवा परम्परागत कसौटी पर ही किसी कृति को परखना चाहते है, तब व भला काव्यगत अथवा जीवनगत किसी नवीन शैली, पद्धति, पन्थ अथवा अभिव्यक्ति का स्वागत कैसे करेगे, जिनमे वर्णनीय विषय अथवा वस्तु के साथ तन्मय अथवा एकाकार होने की क्षमता नहीं है, व किसी कवि या कृति का ठीक ठीक आस्वादन ही नहीं कर सकते, उसका मूल्याङ्कन कैसे करेगे, जिनमे कवि के हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित करने की योग्यता नहीं है, वे कर्त्ता के हृदय अथवा उसकी काव्यभूमिका म प्रवेश ही नहीं कर सकते, उसकी गति विधि, गुण दोष, प्रभाव प्रसार आदि का निरीक्षण भला क्या करेगे। इस प्रकार समीक्षक के उत्तर दायित्व विविध प्रकार के दिखाई पड़ते हैं—उदाहरणार्थ : पाठक के प्रति, कवि के प्रति, अपने प्रति, साहित्य संस्कारों के प्रति, युग के प्रति इत्यादि। वर्तमान समीक्षा के विविध भेद विवेचनात्मक, निर्णयात्मक, प्रभावात्मक तुलनात्मक, ऐतिहासिक आदि इन्हीं उपर्युक्त एक या दो उत्तरदायित्वों के सम्पादन के आधार पर जान पड़ते हैं। किन्तु ये भेद, समीक्षक के किसी एक या दो दायित्व पर विशेष ध्यान देने के कारण अपूर्ण, अधूरे या एकदेशीय हैं। पूर्ण समीक्षा तो वही मानी जायगी जिसमे समीक्षक के सभी उत्तरदायित्वो का सम्यक् प्रकार से सम्पादन किया गया हो। निष्कर्ष यह कि किसी भी ग्रन्थ या कृति की पूर्ण समीक्षा

उपस्थित करने के लिए एक ओर पाठकों की माँग को ध्यान मे रखना चाहिए तो दूसरी ओर कवि के उद्देश्य को, एक ओर साहित्य की प्राचीन तथा नवीन गति-विधि के आलोक मे कृति का स्वरूप देखना आवश्यक है तो दूसरी तरफ काव्यगत जीवन की ग्राह्य तथा अग्राह्य बातों को लक्षित कराना अनिवार्य, एक ओर नवीन युग तथा जीवन की परिस्थितियों, प्रश्नों एव अभावों का प्रभाव कृति पर दिखाना आवश्यक है तो दूसरी ओर उसी प्रकार की कृतियों से उसकी तुलना करना समीचीन।

हमारा साहित्य केवल अपनी परम्परा का रूप लेकर कोने म पड़ा नहीं प्रत्युत यातायात तथा विचार विनिमय की सुविधाओं के कारण विश्व-साहित्य के साथ उसका सम्पर्क हो गया है। विश्व-जीवन की प्रवृत्तियों का प्रभाव दृश्य तथा अदृश्य रूप मे हमारे जीवन तथा साहित्य दोनों पर पड़ रहा है। अत वर्तमान युग की किसी कृति पर विचार करते समय उसे विश्व जीवन तथा विश्व साहित्य की प्रवृत्तियों के सङ्गम मे बिठाकर यह देखना आवश्यक है कि वह कितनी दूर तक उन प्रवृत्तियों के अनुकूल है और कितनी दूर तक प्रतिकूल, तथा वह अनुकूलता या प्रतिकूलता विकासमय जीवन के लिए कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है?

कामायनी मे जीवन का स्वरूप वहीं तक आधुनिक एव विश्व प्रवृत्तियों के मेल मे है जहाँ तक वह हमारे अतीत आदर्शो की भित्ति पर खड़ा हो सकता है। प्रसादजी विश्व-जीवन के विकास पथ पर चलना चाहते हैं किन्तु प्रयोगसिद्ध वर्तमान का सम्बल लेकर। प्रयोगाधीन वर्तमान को अपनाने म वे हिचकते हैं किन्तु उनकी यह हिचकिचाहट जीवन-सरक्षण तथा उसकी विकास-सिद्धि के लिए ही है, किसी अन्धानुकरण या परम्परावादिता का परिणाम नहीं। कामायनी मे महाकाव्य का स्वरूप विश्वसाहित्य

की आधुनिक प्रवृत्तिया के मेल म रखा गया है, किन्तु काव्य को अभिनव प्रवृत्तियों की स्वीकृति, नूतनता क आह्वान के साथ साथ प्राचीनता के विसर्जन रूप म नही है। इसम भारतीय काव्यो के उत्कृष्ट गुणों का समावेश करके विश्व साहित्य के आकर्षक एव उत्कर्षविधायक गुणो का सन्निवेश किया गया है। आधुनिक युग के मेल मे बैठने वाली अपनी परम्परा तथा सरकृति की रक्षा के साथ साथ विश्वव्यापी अभिनव धारणाओं का सम्प्रवेश भी किया गया है। इस प्रकार कामायनी की सृष्टि म कवि ने मध्यपथ का अवलम्बन लिया है।

सप्रति गद्यवाङ्मय की वृद्धि के साथ साथ उपन्यासो ने वर्णनों पर अपना अखण्ड अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया है, कहानियों ने वस्तु या कथा तत्त्व के ऊपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है, कार्य व्यापार (Action) मुख्यतः नाटक का तत्त्व समझा जा रहा है। फलस्वरूप प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य) की वर्ण्यभूमि केवल भावभूमि ही शेष रह गई है। इसी से आधुनिक महाकाव्य वर्णन प्रधान न होकर भाव प्रधान हो रहे हैं। क्या पूर्व क्या पश्चिम, सभी देशो के महाकाव्य प्राचीन काल से आदर्श की प्रधानता स्वीकार करते आये हैं। चाहे रामायण या रघुवश को उठाइये, चाहे पैराडाइज लौस्ट या एनीड को सर्वत्र आदर्श की ही प्रधानता मिलेगी। किन्तु आज जीवन की गति म भौतिक तत्व का अधिक समावेश होने क कारण जीवन के प्रतिबिम्ब विधायक साहित्य में आदर्श का परित्याग तथा यथार्थ का अभिनन्दन हो रहा है। कोई कहता है "जीवन स्वतः महत्त्व की वस्तु है अतः काव्य को उसकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, वरन् उसका पुनर्निर्माण करना चाहिए"। उसका कार्य उसके स्वरूप का निर्णय या तात्पर्य समझाना नहीं है, वरन् उसे

(जीवन को) पूर्ण रूप से व्यक्त करना है।"* कोई कहता है "काव्य को मानव जीवन के निरीक्षण पर लक्ष्य रखना चाहिए उसके कथानक या इतिवृत्त पर नहीं"† तात्पर्य यह कि प्राचीन काल मे महाकाव्य के कथानक और आदर्श-स्थापना पर कवियों की जैसी दृष्टि थी वैसी आज नहीं है। अब मानव जीवन की मनोवैज्ञानिक विवृति ही नवीन कवियों का साध्य बन रही है। उनकी दृष्टि मे वस्तु या वृत्त तो इतिहास है, काव्य से उसका वैसा सम्बन्ध नही, जैसा इतिहास से है।

कहा जाता है कि महाकाव्य‡ की रोचकता का मुख्य कारण उसमे वर्णित अन्तर्वृत्तियाँ एव उनके आध्यात्मिक परिणाम की नियोजना है, पात्रों का कार्य तो गौण है। विश्व साहित्य की ये ही उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ कामायनी मे लक्षित होती हैं।

साहित्य के इतिहास पर विचार करने मे यह प्रकट होता है कि उसमें परिवर्तन का क्रम उन उन समयो की सामाजिक और

---

*It (Poetry) has not to say life in the world ought to mean this or that but it has to show life unmistakably being significant It does not interpret the facts of life but recreates it The Epic—*Abercrombie*

†the accent is not upon the plot but upon the observation of human life

Modern Study of English Literature —*Moulton*

‡In Epic interest tends to centre less round the deeds of men and more round their inner feelings and their spiritual bearing—The Study of Poetry

सांस्कृतिक अवस्थाओं के अनुरूप ही होता आया है। ज्यों-ज्यों समय बदलता जाता है त्यों-त्यों देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि स्थितियों में परिवर्तन होते जाते हैं और प्रायः उसी क्रम से साहित्य-निर्माण की दिशायें भी बदलती जाती हैं। कवि पर उन स्थितियों का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से उसकी साहित्यिक सृष्टि में युग के संस्कार समाहित होते रहते हैं। कामायनी की अभिनवता भी युग के इन्हीं संस्कारों का परिणाम है।

प्रसादजी ने अपनी काव्य और कला नाम की पुस्तक* में पाठ्य-काव्य के बाह्यवर्णन, बुद्धिवाद आदि से विराग दिखाया है और भाव पक्ष से अनुराग। वे काव्य का सहज धर्म, आत्मा की क्षण क्षण में उत्पन्न होने वाली सङ्कल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। इसीलिए काव्यों में उनकी दृष्टि भाव सौन्दर्य ही पर विशेष रहती है। भाव-सौन्दर्य की इस विशेषता एवं अपने रचना सौन्दर्य की विशिष्टता के कारण कामायनी कलात्मक या साहित्यिक महाकाव्य के अन्तर्गत आती है। विलायत† में महाकाव्य के दो वर्ग माने गये हैं :—

Epic of growth—संकलनात्मक महाकाव्य।

Epic of art—कलात्मक या साहित्यिक महाकाव्य।

सङ्कलनात्मक महाकाव्य समाज की माँग पूरी करता है। उसकी शैली स्वाभाविक, सरल तथा सुबोध होती है। उसमें कवि का ध्यान कला-सौष्ठव पर नहीं रहता किन्तु कलात्मक महाकाव्य में

---

* काव्यकला तथा अन्य निबन्ध (जयशंकर प्रसाद)

† The Epic—*Abercrombie*

कवि की दृष्टि रचना-सौन्दर्य पर विशेष रहती है। फलतः उसकी शैली में काव्य के उत्कर्ष-विधायक गुणों का समावेश रहता है। ऐसा काव्य साहित्यिक समाज में ही अधिक समादृत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी का जितना समादर साहित्यिक समाज में होगा उतना जन-साधारण में नहीं।

हिन्दी के समीक्षक* संस्कृत-साहित्य के ढर्रे पर महाकाव्यों के दो वर्ग मानते आये हैं—घटना प्रधान तथा चरित्र प्रधान, किन्तु भारतीय काव्यों का लक्ष्य भाव की अभिव्यक्ति की ओर भी रहा है। अतः महाकाव्य का तीसरा वर्ग भाव प्रधान भी हो सकता है। कामायनी इसी तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आयेगी। अतएव घटना प्रधान अथवा चरित्र प्रधान महाकाव्यों के लक्षणों की तुला पर भावप्रधान कामायनी महाकाव्य की नाप जोख करना कवि तथा कृति दोनों के साथ अन्याय करना होगा। क्योंकि समीक्षक† को कलाकार के साथ न्याय का व्यवहार करने के लिए उसकी निन्दा किसी ऐसे कार्य या बात के लिए नहीं करनी चाहिए जिसको वह अपनी कृति में बनाने या प्रदर्शन करने का प्रयत्न ही

---

* जायसी ग्रन्थावली की भूमिका।

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

† In fairness to artist, critic should not criticise him for not doing some thing what he was not trying to do.

Critic should try to know what he was trying to do

—Bases of Criticism (83)

नही कर रहा था। कृतिकार या कलाकार के साथ न्याय बरतने के लिए समीक्षक को यही जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपनी कृति मे क्या बनाने या निर्माण करने का प्रयत्न कर रहा था।

पुरानी पद्धति का अन्धानुकरण करने वाला कवि, हमारे यहाँ अन्ध और परप्रत्ययनेय बुद्धि वाला समीक्षक मूढ कहा गया है। तब भला भारतीय समीक्षा पद्धति की दुहाई देने वाले समीक्षका का कामायनी महाकाव्य की नवीन रचना पद्धति पर नाक-भौ सिकोड़ना कहाँ तक ठीक है? और कामायनी म महाकाव्य के कुछ पुराने लक्षणो को न पाकर उसे महाकाव्य के क्षेत्र से निकालना कहाँ तक न्याय सगत? इसका निर्णय सन्त बुद्धिवाले समीक्षक स्वय कर सकते हैं। भारतीय प्राचीन रीति शास्त्रो की दृष्टि से कामायनी पर जो सामान्य आक्षेप हो सकते हैं उनका भी समाधान स्वय लेखक के मानदण्ड तथा युग की विचारधारा से पूर्णतया हो जाता है। उपर्युक्त कथन का मेरा यह तात्पर्य कदापि नही कि उसका (कामायनी का) विधान सर्वथा शास्त्र-दृष्टि शून्य है। सस्कृत के रीतिग्रन्था मे महाकाव्य के जो स्थायी या निश्चित लक्षण बताये गए हैं उनका पालन कामायनी म पूर्णतया हुआ है। जैसे, नायिका का धीरोदात्त चरित्र, कथानक म ऐतिहासिक-आधार एव सदाश्रयत्व, मानव जीवन के प्रतिनिधि भावो की उपस्थिति, जीवन म सर्वव्यापी मानव भाव की महाकाव्य मे प्रधानता, महाकाव्य के साध्य रूप म परमोच्च विश्व चेतन की प्राप्ति, राष्ट्र एव विश्व-जीवन की मुख्य वास्तविकताओं एव समस्याओ का चित्र। सस्कृत के लक्षण ग्रन्थों म दिए हुए महाकाव्य के स्थूल लक्षणों—काव्य या सर्गों के नामकरण, सर्गो की सख्या तथा आकार, छन्द-विधान, वर्ण्य विषय की विविधता

आदि का भी यथा साध्य पालन कामायनी म हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि सस्कृत साहित्य म वाल्मीकि से लेकर श्रीहर्ष तक किसी ने भी महाकाव्य के स्थूल नियमो का पूर्णतया पालन नही किया। हिन्दी साहित्य म भी वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक किसी भी महाकाव्य म इन स्थूल नियमों का पूर्णतया पालन नही दिखाई पडता। माघ के शिशुपालबध तथा श्रीहर्ष के नैषध चरित मे कथानक महाकाव्य की दृष्टि से बहुत ही छोटा है तो क्या ये महाकाव्य के नाम से अभिहित नही होते? तुलसी के रामचरितमानस मे सात ही सर्ग हैं तो क्या वह महाकाव्य की श्रेणी से पृथक् कर दिया गया? विदेशी साहित्य मे भी अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट नियमो का पालन होमर से लेकर शेली तक किसी भी महाकवि ने नही किया। किन्तु कुछ स्थूल नियमो के अतिक्रमण के कारण वहाँ के समीक्षका ने उनके महाकाव्यो को कोई दूसरी सज्ञा नही दी, उन्हें महाकाव्यों की पक्ति से बहिष्कृत नही किया। वस्तुत. शास्त्र तो मार्ग-प्रदर्शन मात्र के लिए निमित होता है, काव्य के नियम-प्रवाह को अवरुद्ध करने के लिए नही। इसी से विचारशील आचार्यों ने शास्त्र के नियम-निरूपण के पश्चात् यह स्पष्ट कह दिया हे :—

> सन्धि सन्ध्यङ्गघटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
> न तु केवलया बुद्ध्या शास्त्रसम्पादनेच्छया।

काव्य मे शास्त्र सम्पादन की इच्छा अनभीप्सित मानी गई है और रसाभिव्यक्ति की इच्छा अभीष्ट। कामायनी के सम्बन्ध मे कौन कह सकता है कि इसमे रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं उपेक्षा हे।

नियमों का अतिक्रमण मूल सिद्धान्तों की पराङ्गमुखता नहीं है। छन्द-परिवृत्ति महाकाव्यों में प्रवाह की भङ्गिमा सूचित करने के लिए होती है। नूतन भाव के साथ उसके उपयुक्त नूतन छन्द का सामञ्जस्य कर देने से काव्य की रमणीयता बढ़ जाती है। अंगरेजी साहित्य में भारतीय साहित्य की भाँति संगीत-तत्त्व का सूक्ष्म विधान नहीं है फिर भी वहाँ के कवि छन्दः-परिवृत्ति के बिना भी काव्य में परिस्थिति-परिवर्तन की सूचना देते रहे हैं। यदि कोई कवि इस नियम का पालन न करे तो इससे मूल सिद्धान्त का विरोध उपस्थित नहीं हो सकता, भले ही नियम या उपनियम का पालन न हो सके। मानस के रण-प्रसंगों में कवि ने वीरभावोद्बोधक छन्दों का प्रयोग बराबर किया है किन्तु पदमावत में वे ही रस या प्रसंग सदा दोहे-चौपाई में ही रखे गये हैं। ऐसा करने से उसका युद्ध वर्णन अवश्य उतना नहीं खिल सका। पर उससे वीर भाव का उद्रेक होता ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार यदि बात बात में छन्द बदलते जायँ तो इस अतिरेक से वैसी ही क्या उससे भी अधिक बाधा उपस्थित हो सकती है। केशव की रामचन्द्रिका में छन्दों का हेर फेर इतना अधिक हुआ है कि काव्य का प्रवाह कहीं जमता ही नहीं, टूट टूट जाता है। इसी से कहा जाता है कि शास्त्र, मार्ग विलोकन की दृष्टि दे सकता है, मार्ग पर पद विन्यास करना नहीं सिखा सकता। अनुकूल पद्धति चुनने का कार्य कर्ता का ही है, शास्त्र का नहीं।

प्रबन्ध काव्य में नाना प्रकार की घटनाओं का समावेश मानव जीवन सम्बन्धी अनेक प्रकार की भावनाओं एवं अन्त-र्वृत्तियों के अङ्कन के लिए होता है, और उनका समन्वित लक्ष्य होता है, मानव जीवन की यथासाध्य पूर्ण अभिव्यक्ति। यदि घटनाओं के आधिक्य के बिना ही कर्ता वैसा करने में सफल हो जाय

तो स्थूल नियमों का अतिक्रमण दूषण न होकर भूषण ही होगा। कामायनी में ऐसा ही हुआ है।

महाकाव्य की सच्ची कसौटी छन्द विधान नहीं, सर्ग सख्या नहीं, मगलाचरण नहीं, खल निन्दा या सज्जनशासन नहीं, प्रकृति वर्णन या वस्तु-परिगणन नहीं, पात्रों या घटनाओं की बहुलता नहीं, ये सब तो उसके बाह्य अङ्ग हैं। उसकी आत्मा है जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति, जिसमें जीवन के चिरन्तन सघर्ष का अङ्कन, मानव हृदय के नाना भावो एव परिस्थितियो का चित्रण, जीवन की महानतम वास्तविकता का वर्णन एव मानव जीवन की परमोच्च विश्व चेतना का स्पष्टीकरण रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी, महाकाव्य की इस अन्तरङ्ग कसौटी पर सफल उतरती है।

कथानक

किसी भी ख्यातवृत्त वाले काव्य के कथानक पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि उसका मूलाधार क्या है। इस दृष्टि से ख्यातवृत्त प्रधान वाले महाकाव्य 'कामायनी' के कथानक पर विचार करते समय इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि इसके मूलाधार ग्रन्थ कौन कौन से है। कामायनी की कथा-सामग्री विभिन्न वेदो, पुराणो, ब्राह्मणो तथा आर्य्य साहित्य के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में बिखरी पड़ी है। मनु का इतिहास विभिन्न वेदों, पुराणो, स्मृतियों, इतिहासो तथा काव्यग्रन्थों मे पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। कामायनी मे तपस्वी मनु सम्बन्धी वृत्तान्त तथा हिंसक यजमान मनु की कथा ऋग्वेद के आधार पर है। नियामक अथवा प्रजापति मनु की कथा अथर्ववेद, ऋग्वेद, महाभारत तथा मनुस्मृति के आधार पर निर्मित हुई है। इडा सम्बन्धी कथाएँ प्रायः ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण से ली गई है। श्रद्धा सम्बन्धी घटनाएँ ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण तथा विभिन्न पुराणों के आधार पर बनी है। कुमार की कथा का आधार यम-यमी की कथा से ढूँढा जा सकता है। जल-प्लावन की कथा, देव-सृष्टि-वर्णन एव श्रद्धा-मनु की प्रणय-कथा न्यूनाधिक अन्तर से ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, देवीभागवत पुराण, श्रीमद्भागवत तथा हरिवंश मे पाई जाती है। छान्दोग्योपनिषद् तथा त्रिपुरारहस्य मे श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या मिलती है। कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों की रचना शैवागम के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर हुई है। कामायनी के प्रारम्भ मे प्रसादजी

लिखित 'आमुख' से यह विदित होता है कि इसके कथानक के प्रमुख मूलाधार ग्रन्थ ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा श्रीमद्भागवत ही हैं। काव्यान्तर्गत प्रतिपादित सिद्धान्त एवं दर्शन का मूल स्रोत शैवागमों में मिलता है। (ओघ या जल-प्लावन की कथा केवल भारतीय पुराणों से ही नहीं, यहूदियों, यवनों तथा असीरिया के पुराणों में भी वर्णित है।) अतः यह स्पष्ट है कि यह वही ऐतिहासिक घटना है जो धार्मिक भावना की खोल ओढ़कर दैवी कोप का प्रतीक बन गई है। और ज्ञानोन्मेष के प्रथम प्रभात काल में मनुष्यों के प्रत्येक दल ने अपनी भावात्मक वृत्ति के कारण इसे बहुत ही भावात्मक तथा अतिरंजित बना दिया है तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों का रूप भी भावात्मक कर दिया है। इसीलिए तथ्य-संग्रहकारी तार्किकों को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने में सुविधा हो जाती है। किन्तु पात्रों तथा घटनाओं का भावात्मक वर्णन या रूप देखकर ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि इसमें सत्यांश है ही नहीं। स्वयं प्रसादजी ने जल-प्लावन* की घटना को प्रमाणों द्वारा ऐतिहासिक सिद्ध किया है। विदेशी विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं। डाक्टर ट्रिंकलर का अनुमान है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेषों से अवगत होता है कि हिमालय प्रान्त में कभी न कभी जल-प्रलय हुआ था। भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों ने तो भूगर्भ के विविध स्तरों के आधार पर यहाँ तक सिद्ध किया है कि यह बाढ़ ईसा से दस करोड़ वर्ष पूर्व आई थी।† उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कामायनी

---

*कोषोत्सव स्मारक संग्रह में देखिए—आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट् नामक लेख (प्रसाद)

† १६ अक्टूबर सन् १६२८ का पायोनियर।

की कथा का आधार ऐतिहासिक है तथा उसके वस्तु-संविधान के लिए कर्ता ने आर्ष वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों का आलोडन करके कथा-सिद्धि के लिए एक सूत्र निकाला और अपने महाकाव्य के साधनों तथा साध्य के अनुसार तत्सम्बन्धी प्रसंगों को भिन्न भिन्न ग्रन्थों से लेकर कथा का ढाँचा खड़ा किया। कथानक की विच्छिन्न शृंखलाओं को काल्पनिक घटनाओं से जोड़कर उसे काव्यात्मक बनाया।

अब देखना यह चाहिए कि कथानक को काव्योपयोगी बनाने के लिए कवि ने मूल कथा में कहाँ कहाँ परिवर्तन किया है। अर्थात् मूल कथा के क्रम में कहाँ कहाँ परिवर्तन हुआ है? किन किन नवीन घटनाओं की उद्भावना की गई है? किन किन घटनाओं में परिष्कार तथा परिहार हुआ है? कौन कौन से अनुपयोगी वृत्त छोड़ दिये गये हैं? किन किन घटनाओं की सृष्टि उसी प्रकार की दूसरी घटनाओं के आधार पर हुई है? साथ ही यह भी देखते चलना है कि मूल कथा के इन परिवर्तनों, परिष्कारों तथा परिवर्द्धनों, परिहारों एवं स्वतन्त्र उद्भावनाओं से कामायनी का कथानक उसके प्रयोजन की सिद्धि में कहाँ तक सफल हुआ है, वस्तु-संविधान की दृष्टि से कहाँ तक वह कलात्मक बन सका है एवं ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा में कहाँ तक समर्थ हो सका है।

कामायनी में कल्पित कथाओं की सृष्टि तथा घटनाओं का क्रम-परिवर्तन चार प्रयोजनों से हुआ है—कथानक में सम्बन्ध-निर्वाह की रक्षा, कथा की धारा को सदा महाकाव्य के साध्य की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न, विविध प्रसंगों में अन्विति की स्थापना तथा घटनाओं को अधिक से अधिक मानवीय बनाने की चेष्टा। प्रसंगों की एकता तथा सम्बन्ध

निर्वाह—दोनो तत्त्व अन्योन्याश्रित है। प्रबन्ध काव्य मे कथा की धारा चलती है। धारा-प्रवाह की रक्षा के लिए एक प्रसग से दूसरे प्रसग पर आना पडता है और सभी प्रसगो का प्रवाह काव्य के साध्य की ओर उन्मुख करना पड़ता है। प्रसादजी ने अपनी स्वतत्र-कल्पित कथाओ से बिखरे हुए वृत्तों को एक सूत्र में जोड़कर ऐसा सुन्दर प्रवाह कथानक मे उत्पन्न किया है कि कथा की धारा का प्रवाह कहीं टूटता ही नही, आवश्यकतानुसार कही मन्द, कही तीव्र गति से साध्य की ओर चलता हुआ दिखाई पड़ता है। श्रद्धा एव मनु का सम्बन्ध आधिकारिक कथा से है तथा इडा का प्रासगिक कथा से। कामायनी का पूर्व भाग श्रद्धा एव मनु सम्बन्धी घटनाओं से घिरा है तथा उत्तर भाग का अधिकाश इडा सम्बन्धी वृत्तों से। ये दोनों प्रमुख आधिकारिक तथा प्रासगिक घटनाएँ भिन्न भिन्न स्थानो पर घटित हो रही है जो एक दूसरे से बहुत दूर है। इन दोनो घटनाओ का एक सम्बन्ध-सूत्र मे बाँधनेवाला वृत्त (मनु के निवासस्थान पर उनके यज्ञावशिष्ट अन्न से इड़ा की पालित होनेवाली घटना) जो कामायनी के मूलाधार ग्रन्थ, शतपथ में मिलता था उसे कवि ने छोड़ दिया है। अत. पाठकों को प्रारम्भ मे इस बात की बडी जिज्ञासा रहती है कि कवि इन बिखरे हुए प्रसगो की अन्विति कैसे बैठायेगा, उन्हे किस प्रकार एक सम्बन्ध-सूत्र में पिरोयेगा तथा कथा के धाराप्रवाह की रक्षा कैसे करेगा? कवि बड़े ही कौशल से श्रद्धा के पुत्र-प्रेम से, मनु के हृदय म ईर्ष्या उत्पन्न कर, उनकी भागने वाली घटना का निर्माण कर लेता है और इस प्रकार मनु को भगाकर सारस्वत प्रदेश मे इड़ा के पास पहुँचा देता है। मनु को सारस्वत प्रदेश में नियामक रूप मे रखनेवाली घटना तथा इड़ा एवं मनु दोनों की एक दूसरे के प्रति आकर्षण तथा प्रेम वाली घटनाएँ

दूसरे ग्रन्थों में (ऋग्वेद और भागवत में) वर्णित घटनाओं के आधार पर बनाई गई है, किन्तु कहने की आवश्यकता नही कि इनके द्वारा कथा के सम्बन्ध-निर्वाह, प्रसगो की अन्विति की सुरक्षा, तथा धारा प्रवाह की एकता को ठीक रखने मे बडी सहायता मिलती है। मनु के भाग जाने पर श्रद्धा अपना विरह-व्यथित जीवन अपने पुत्र मानव के साथ अपने पूर्व निवास-स्थान पर बिता रही है। और इधर मनु सारस्वत प्रदेश मे अपने अत्याचार-पूर्ण स्वच्छन्द व्यवहार के कारण सारी जनता एव देवताओ के कोपभाजन बनकर युद्ध क्षेत्र मे मुमूर्षु पडे है। कवि ने श्रद्धा की स्वप्नवाली घटना का निर्माणकर और उसे मनु के पास युद्धक्षेत्र मे पहुँचाकर, दोनो बिखरी हुई घटनाओ को जोड दिया है, दो विच्छिन्न प्रसगों को एक सम्बन्ध-सूत्र मे बाँध दिया है तथा उनका प्रवाह साध्य की ओर उन्मुख कर दिया है।

इसी प्रकार कवि की अन्य कल्पित घटनाएँ—जैसे, श्रद्धा को युद्धक्षेत्र में देखकर, होश मे आने पर मनु का वहाँ से ग्लानि-वश भाग जाना, उन्हे खोजने के लिए श्रद्धा का पुन: निकलना, मनु को दूसरी बार भी प्राप्त कर लेना, श्रद्धा-मनु की कैलास-यात्रा, फिर इडा, मानव तथा अन्य नगर-वासियो का वहाँ जाना, सबका अखण्ड आनन्द का अनुभव करना, आदि—कथानक के सम्बन्ध-निर्वाह की रक्षा मे, प्रसगो की अन्विति बैठाने मे तथा कथा की धारा को साध्य की ओर उन्मुख करने में पूर्णतया समर्थ हो रही है।

ऐतिहासिक कथानक मे नवीन कथा की सृष्टि का विशेषाधिकार कवि को प्राप्त है, किन्तु यहाँ उनकी कर्तृत्वशक्ति की कड़ी परीक्षा होती है। ऐतिहासिक कथानक से नूतन कथा

की संगति बैठाते समय तत्कालीन परिस्थिति से उसका पूर्ण सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। यदि इसमें कवि तनिक भी चूका तो काव्य में काल दोष आ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी की कवि-कल्पित घटनाएँ प्रायः युग के वाता-वरण के अनुकूल है। कामायनी की कवि कल्पित घटनाएँ किस प्रकार तत्कालीन युग के वातावरण के अनुकूल है—इसकी चर्चा अगले अध्याय मे की जाएगी, इसलिए पुनरुक्ति दोष से बचने के लिए इस प्रसंग को यहीं समाप्त करता हूँ।

मूलाधार ग्रन्थो से कामायनी मे घटनाओ का क्रम-परिवर्तन उन्हे अधिक से अधिक मानवीय एव स्वाभाविक बनाने के उद्देश्य से हुआ है। कामायनी मे इडा शतपथ की भाँति मनु की पालित कन्या नहीं है, वह मनु के पूर्व निवास-स्थान पर न मिलकर सारस्वत प्रदेश मे मिलती है। इस परिवर्तन से मनु अपनी पालित कन्या पर मोहित नही होते, जो बहुत ही अमानवीय हो जाता, उनके हृदय में इडा के प्रति आकर्षण तथा श्रद्धा से विकर्षण उसके (श्रद्धा के) समक्ष ही नहीं होता जो बहुत ही अस्वाभाविक प्रतीत होता। अतृप्त वासनावाले मनु जैसे विलासी का निर्जन प्रदेश मे इडा जैसी 'नयनमहोत्सव की चन्द्रिका' की ओर खिंच जाना स्वाभाविक ही है।

अब यह देखना चाहिए कि किन किन घटनाओ मे परिष्कार, परिवर्धन तथा परिहार हुआ है और इन परिवर्तनों से कथानक कहाँ तक काव्योपयोगी बन सका है। क्योंकि ऐतिहासिक विवरणों मे परिष्कार, परिहार या अतिचार की आवश्यकता महाकाव्यो मे उन विवरणों या उनके परिणामों का लेखा-जोखा देने को नहीं होती वरन् वह किसी काव्यगत प्रयोजन की सिद्धि

के लिए अथवा कोई अद्भुत प्रतीक खड़ा करने के लिए होती है* । श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में मत्स्य का उल्लेख अवतार रूप में मिलता है। उनमें अप्राकृतिक तत्त्व वर्तमान हैं। कवि ने कथा में ऐतिहासिकता लाने के लिए इस अप्राकृतिक तत्त्व को छोड़ दिया है। मनु की नाव 'शतपथ' तथा 'भागवत' में मत्स्य के शृंगक में बँधकर हिमालय पर पहुँची किन्तु कामायनी में मत्स्य के चपेटे से। घटना का यह परिष्कार काव्य में यथार्थता लाने के लिए हुआ है। 'भागवत' में पाकयज्ञ पुत्रोत्पत्ति के लिए किया गया है, किन्तु 'शतपथ' में जल-प्लवन के अनन्तर देव-प्रवृत्ति के अनुसार। कवि ने यहाँ शतपथ का ही अनुसरण किया है। कामायनी में मनु सहज-देवप्रवृत्ति से ही यज्ञ करते हैं :—

"सजग हुई फिर से सुर-संस्कृति, देव यजन की वर माया।"
कथा में सम्बन्ध-निर्वाह लाने के लिए ऐसा किया गया है।

शतपथ में यज्ञ के अवशिष्टान्न से इड़ा का पोषण होता है, कामायनी में इस अंश का परिहार मर्यादा के लिए किया गया है। तभी तो इड़ा मनु को सारस्वत प्रदेश में पहचानती नहीं, और पूछती है :—

'कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल'।

---

*And yet modification or suppression and exaggeration of the details of the history will certainly be necessary not to declare what happened or result of what happened, is the object of an epic, but to accept all those as the mere material in which a single artistic purpose or a unique vital symbolism may be shaped

The Epic—*Abercrombie.*

ऋग्वेद, शतपथ तथा पुराणों में श्रद्धा केवल मनु की पत्नी तथा कामगोत्रजा (कामपुत्री) के रूप में आती है। कामायनी मे कवि ने श्रद्धा के वृत्तो मे मूल कथा से बहुत अधिक परिवर्धन कर दिया है जिससे वह अपना एक पूरा वृत्त, रूप तथा स्वभाव लिये हुए काव्य मे दिखाई पडती है। परिवर्धित एवं नव कल्पित घटनाओं के कारण वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता का पूर्ण विकास उपस्थित करती है। श्रद्धा-सम्बन्धी घटनाओं की परिवर्धना तथा उद्भावना कवि ने कथानक में सदाश्रयता लाने के लिए, विषय की पूर्णता के लिए, युग की नारी समस्या के सुलझाव के लिए तथा काव्यगत उद्देश्य की सिद्धि के लिए की है।

भागवत तथा अन्य पुराणों मे मनु-श्रद्धा से उत्पन्न दस पुत्र माने गये है—इक्ष्वाकु, नृग, पृषध्र, शर्याति, द्रिष्ट, धृष्ट, करुष, नरिष्यन्त, नभग और कवि। इसमे इनका एक ही पुत्र शर्याति या मानव है। इस संक्षेप का कारण अनावश्यक विस्तार से बचना ही है। काव्य तो इतिहास है नही कि वंशावली बनाने बैठे। कवि के ध्येय की पूर्ति केवल एक पुत्र मानव (शर्याति) से हो जाती है। इसलिए अन्य पुत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले अनुपयोगी वृत्तों को उसने छोड दिया है। सारस्वत प्रदेश मे मनु के विरुद्ध युद्ध वाली घटना मे कवि ने परिवर्धन किया। शतपथ मे मनु के विरुद्ध केवल देवता ही युद्ध करते है, किन्तु कामायनी मे सारी जनता एव समाज मनु के विरुद्ध हो जाता है। इस युद्धवाली घटना मे परिवर्धन का उद्देश्य असत् कर्म का प्रभाव एव प्रसार ही दिखाना जान पडता है। मनु द्वारा ताण्डव नृत्य तथा शिव का दर्शन, श्रद्धा एवं मनु की कैलास-यात्रा मे श्रद्धा की स्मिति द्वारा त्रिबिन्दुओं का मिलना, कैलास-वर्णन आदि त्रिपुरा-रहस्य के शैललोक के आधार पर है। इन घटनाओं का निर्माण कवि ने

अपने काव्य के चरम साध्य की प्राप्ति के वातावरण की सृष्टि के लिए किया है। प्रसादजी की आनन्दवाद की पद्धति स्वीकार न करनेवालो के अनुसार तो ग्रंथ की समाप्ति वही हो जानी चाहिए जहाँ श्रद्धा, इड़ा और मानव को मधुर सम्बन्ध (परिणय) मे बाँधकर, मनु को खोजने निकल जाती है या जहाँ उन्हे वह खोज लेती है। उनकी दृष्टि मे अन्तिम दो सर्ग व्यर्थ है। यदि आनन्द-वाद की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति काव्य के मेल मे किसी प्रकार न बैठती होती तो यह बात किसी प्रकार मानी भी जा सकती थी, किन्तु जब उस अश द्वारा पूर्व-वर्णित सास्कृतिक बहिर्विकास के साथ उसके अन्तर्विकास का समन्वय कराया गया है तब उसे अनावश्यक कहना ठीक नही। अन्य महाकाव्यकारो के समान प्रसादजी अपने नायक को लौकिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचाकर विरत नही होते प्रत्युत उसे भौतिक सीमा के पार आध्यात्मिक लोक मे ले जाते है, जहाँ हमारी काव्यगत, पात्रगत तथा जीवनगत - सभी प्रकार की जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती है।

घटनाओं का चुनाव करते समय कवि ने निम्नांकित विशेष बातों का ध्यान रखा है। कवि ने प्राय. उन्हीं घटनाओं को अपने कथानक के लिए ग्रहण किया है जिनके बारे मे अधिक से अधिक मूलाधार ग्रथ एकमत है, जैसे, जल-प्लावन की घटना। काव्य मे ऐसी घटनाएँ चुनी गई है जिनकी सगति बुद्धि तथा तर्क से ठीक बैठ जाती है, जैसे, मत्स्य के चपेटे से नाव का द्रुततर वेग से हिमालय की ओर जाना। ऐसी घटनाएँ महाकाव्य मे स्थान पा सकी है, जो उनके उद्देश्य के अनुसार आवश्यक थीं, जैसे मनु का इडा की ओर आकर्षण। कथानक के लिए ऐसी घटनाएँ सकलित एव निर्मित की गई है जो मानव जीवन की अविकल्पता के साथ साथ ऐतिहासिक सम्भाव्य की रक्षा करती है, जैसे मनु का पाक-यज्ञ करना तथा

यज्ञावशिष्ट अन्न देखकर श्रद्धा का मनु की ओर जाना। कवि ने कथानक मे ऐसी घटनाओ को भी स्थान दिया है, जिनसे केवल भावव्यञ्जना में उत्कर्ष, तीव्रता तथा मार्मिकता की वृद्धि होती है, जैसे, किलाताकुलि का पौरोहित्य, जो आरम्भ में अनावश्यक सा प्रतीत होता है, किन्तु वही निर्वेद सर्ग मे मनु के मनोवेग को तीव्र करने के लिए आवश्यक सिद्ध हो गया है "और शत्रु सब, ये कृतघ्न, फिर इनका क्या विश्वास करूँ"। 'ये' अर्थात (युद्ध में) किलाताकुलि की उपस्थिति से मनु का निर्वेद और अधिक बढ जाता है, जब वे सोचते है कि जो मेरे काम्य यज्ञ के पुरोहित बने थे, वे ही आज शत्रु हो गये। पात्रों की मर्यादा का ध्यान रख करके घटनाओं का सकलन किया गया है। इसी से मनु के यज्ञाव-शिष्ट अन्न से इडा के पालित होने की घटना छोड़ दी गई है।

अब यह देखना चाहिए कि कामायनी की कथावस्तु, काव्य गत कथानक के प्रयोजनों की पूर्ति कहाँ तक कर रही है। काव्य श्रव्य हो या दृश्य किन्तु दोनो में कथानक चार प्रकार का काम करता है :—

१—पात्रो को साध्य तक पहुँचाता है।
२—भाव-व्यञ्जना मे सहायता करता है।
३—सत्-असत् का परिणाम दिखाता है।
४—चरित्रो की व्याख्या करता चलता है।

प्रथम लक्ष्य की पूर्ति कामायनी मे पूर्णतया दिखलाई पड़ती है। सभी पात्र आनन्दधाम तक पहुँच जाते हैं। दूसरे लक्ष्य की पूर्ति मे तो मानो कवि की आत्मा ही रम गई है। वृत्त के बाह्य वर्णन मे कवि का मन उतना नहीं रमता जितना घटनाओं के प्रभाव से उत्पन्न भाव-व्यञ्जना मे। इसी से इस महाकाव्य में

मर्मस्पर्शी भावाभिव्यक्ति के स्थल अत्यधिक है। प्रत्येक घटना इतनी भावुकता से वर्णित है कि भाव के समुद्र मे घटना का पता लगाना कठिन हो जाता है।

प्रबंधकाव्य मे सत्-असत् का परिणाम सदाचार की रक्षा के लिए दिखाया जाता है। यदि सत् का असत् परिणाम हुआ तो इतिहासकार इतिहास को वास्तविक तथ्य की कसौटी पर खरा उतारने के लिए वही दिखायेगा पर कवि को काव्य मे सदाचार की रक्षा के लिए पाठकों के हृदय मे सत् के प्रति प्रेम तथा असत् के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करते हुए भी सत् का सत् तथा असत् का असत् परिणाम दिखाना पड़ता है, क्योंकि इतिहासकार का उद्देश्य अतीत घटना या समय संबंधी सत्य की रक्षा करना है किन्तु महाकवि का उद्देश्य मानव जीवन की रक्षा करना है। कामायनी मे सर्वत्र घटनाओं के परिणाम स्वतः उद्भूत है, बलात्कृत नहीं, जैसे मनु का इड़ा पर बलात् अधिकार जमाने का प्रयत्न भयकर विप्लव उत्पन्न करता है। चौथे लक्ष्य की पूर्ति के विषय मे चरित्र-चित्रण वाले अध्याय मे यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

आरम्भ मे यह कहा जा चुका है कि कामायनी वस्तु-प्रधान या चरित्र-प्रधान काव्य नही है अतएव वस्तु-प्रधान या चरित्र-प्रधान महाकाव्यों की कसौटी पर इसे कसना ठीक नही। कथा या पात्रों की विविधता तथा विषमता के कलात्मक सौन्दर्य के आधार पर इसकी परीक्षा करना न्यायोचित नहीं। कामायनी मे वस्तु-विचार के अभाव का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्रसाद वस्तु-संविधान के कलात्मक सौन्दर्य की निर्माण-कला मे सिद्धहस्त नहीं थे। जहाँ पर उनकी दृष्टि वस्तु-संनिधान के कलात्मक सौन्दर्य के निर्माण पर है वहाँ पर कथानक मे वस्तु विविधता तथा

विषमता का कलात्मक सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। जैसे, तितली, कंकाल उपन्यासो मे तथा उनकी कुछ ऐतिहासिक कहानियों मे। इस महत्त्वपूर्ण रचना मे यदि वे कथा की विशालता की ओर ध्यान देते, यदि उन्हे वस्तु-विषमता तथा विविधता के विस्तार का कलात्मक सौन्दर्य-निर्माण अभीष्ट होता तो उन्हे इस महाकाव्य के मूलाधार ग्रन्थों से पर्याप्त कथाएँ मिल जातीं। परन्तु इस रचना मे कवि की दृष्टि कथा एवं चरित्रों की विषमता तथा विविधता के विस्तार की ओर उतनी नही है जितनी मानव भावो के विश्लेषण की ओर, दूसरे प्रसादजी की रूपक-निर्वाह की प्रवृत्ति ने कथा मे विविधता के विस्तार एवं उसके स्वच्छन्द-प्रवाह मे बाधा पहुँचाई। काव्यों मे कथा का विस्तार पात्रों ही द्वारा होता है, और इसमे कुल चार ही या पाँच पात्र थे। तो भला पात्रों की इतनी कम संख्या से वस्तु-विविधता का विस्तार कैसे होता? पात्रो की कम सख्या रखने का कारण भी, कवि की रूपक-निर्वाह की प्रवृत्ति ही है, अन्यथा इस कथा से संबध रखनेवाले मूलाधार ग्रन्थो मे वह जितने पात्र चाहता उतने उसे मिल सकते थे। कथाचयन के समय कवि की दृष्टि रूपक को साकार रूप देने पर अधिक दिखाई पडती है, इतिवृत्तों के विस्तार पर कम। मेरे उपर्युक्त विवेचन का यह भी तात्पर्य नही है कि कामायनी में महा-काव्य के कथानक की रूप-रेखा भी नही है। इसमें कथानक की सभी रूप-रेखाएँ है, केवल उनका विस्तार नही हुआ है, उनमें कलात्मक विविध रंग नही भरे गये है। इसीलिए पाठक को कामायनी मे कथानक का आभास तो मिलता है परन्तु उसका पूर्ण चित्र सामने नहीं आता।

किसी भी महाकाव्य के कथानक मे वस्तु की पाँचों अवस्थाओं, सभी अर्थ-प्रकृतियो एव नाटक की पाँचों सन्धियों का होना

आवश्यक माना गया है। कामायनी में कथानक, की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ वर्तमान है, केवल उनका विस्तार नहीं हुआ है। सबसे पहले कामायनी के कथानक में वस्तु की पाँचों अवस्थाओं पर विचार करना चाहिए। किसी भी दृश्य काव्य या प्रबन्ध काव्य में प्रधान पात्रों की शक्तियों के उत्थान-पतन के अनुसार घटना-प्रवाह की गति में पाँच अवस्थाएँ होती हैं। वे ही आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। घटना-प्रवाह की ये पाँचों अवस्थाएँ कामायनी के कथानक में स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। आरम्भ, श्रद्धा के मिलन से लेकर मनु के ऐन्द्रिक भोगों में आनन्द खोजने के प्रयत्न के आरम्भ तक है। प्रयत्न के अन्तर्गत पशु-यज्ञ, गर्भधारण संस्कार, सोमपान, श्रद्धा के पुत्र-प्रेम एवं पशु-प्रेम से ईर्ष्यालु होकर मनु का भागना, सारस्वत प्रदेश में जाकर इड़ा से स्वच्छन्द प्रेम करना, सारस्वत प्रदेश का नियामक बनकर भी अपने व्यवहार में स्वच्छन्दवादी बनना आदि घटनाएँ हैं जो मनु के एक एक करके विश्व के बाह्य भोगों में आनन्द ढूँढने के प्रयत्न से सम्बन्ध रखती हैं। श्रद्धा का स्वप्न देखकर मनु के पास जाना, श्रद्धा-मनु मिलन, मनु का निर्वेद, श्रद्धा से पुनर्मिलन, मनु द्वारा श्रद्धा में विश्वमातृ का दर्शन आदि घटनाएँ प्राप्त्याशा से सम्बन्ध रखती हैं। नियताप्ति, श्रद्धा मनु के पर्वतारोहण की घटना से आरम्भ होती है और रहस्य सर्ग के अन्त में समाप्त होती है। भीषण खड्ड, भयंकर खाई, प्रतिकूल पवन, वातचक्र को देखकर मनु का हताश होना, श्रद्धा का उन्हें साहस बँधाना, फिर दोनों का ऐसे लोक में पहुँचना जो ग्रह, नक्षत्र, तारा, दिवारात्रि से परे है, श्रद्धा की स्मिति से त्रिबिन्दुओं का मिलना, श्रद्धा और मनु का अनाहद नाद सुनने में लीन हो जाना—तक की घटनाएँ नियताप्ति के अन्तर्गत हैं। फलागम की अवस्था आनन्द सर्ग में

आती है जब चारों ओर आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। और वहाँ केवल काव्य के नायक-नायिका ही नहीं वरन् इड़ा, कुमार, तथा अन्य सभी सारस्वत प्रदेशवासी अखण्ड आनन्द में मग्न दिखाई पड़ते हैं।

अर्थ की प्रकृतियाँ अर्थात् कार्य की पाँचों अवस्थाएँ कामायनी में स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। निषद्य, विषण्ण, निराश एवं प्रलय की गोद में पड़े हुए मनु को आनन्द की प्राप्ति करवाना कार्य है। बीज नामक कार्य की अवस्था वहाँ दिखाई पड़ती है जहाँ मनु चिन्ता, दुःख, पश्चात्ताप, अनुताप, अवसाद तथा, निराशा के सागर से पार पाने की आशा करते हैं, दुःख-निवारण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना करते हैं, विश्व के रमणीय तत्त्व की ओर आकृष्ट होते हैं। बिन्दु के अन्तर्गत मनु का पाकयज्ञ, श्रद्धा की प्राप्ति, स्त्री-सहवास, आखेट, सारस्वत प्रदेश का शासन आदि कार्य आते हैं। मनु-इड़ा-मिलन, राष्ट्र-स्वामिनी इड़ा का मनु को मंत्री बनाना, इड़ा द्वारा मनु के स्वच्छन्द व्यवहार का सदा विरोध, प्रजा का विद्रोह, इड़ा और कुमार के साथ सारस्वत प्रदेश के लोगों की कैलास यात्रा आदि का समावेश पताका में होता है। किलाताकुलि का पौरोहित्य, यज्ञ में पशुबलि आदि कार्य प्रकरी के अन्तर्गत आते हैं।

मुख-सन्धि, आरम्भ तथा बीज को मिलाती है, इसके अन्तर्गत मनु का चिन्तन, मनन, यजन, जीवन को सफलता का संकलित विलम्ब कहना, अनादि वासना का जगना, किसी से मिलने की उत्कंठा आदि है। श्रद्धा एवं मनु का एक दूसरे के प्रति आकर्षण दोनों के मिलने की इच्छा, श्रद्धा का मनु को उत्साहित करना, श्रद्धा का आत्मसमर्पण पुरुष का चिरबन्धन स्वीकार करना, प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत है, जो प्रयत्न तथा बिन्दु का मेल कराती है। गर्भसन्धि में

कथानक अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, प्रधान पात्रों के समक्ष अनुक्रमणीय संकट आ जाते हैं, कथा का बीज किंचित्काल के लिए लुप्तप्राय सा दिखाई पड़ता है। और यहीं से घटना का परिवर्तन भी दूसरी दिशा में आरम्भ हो जाता है। पात्रों के हृदय में भावों का उत्थान-पतन दिखाई पड़ता है। अन्त में बीज का अंकुर यहाँ से बहुत तेजी से बढ़ता हुआ तथा फल प्राप्ति की ओर बहुत तेजी से जाता हुआ दिखाई पड़ता है। मनु का युद्धस्थल में घायल होना, फिर मुमूर्षु होकर गिर पड़ना, इडा का उनके पास बैठ कर अतीत पर विचार करना, श्रद्धा के आने पर मनु का फिर भागना आदि घटनाएँ गर्भसन्धि के अन्तर्गत है। अवमर्श सन्धि में कार्य का अपकर्ष (Falling action) दिखाया जाता है। कथानक अपने चरमोत्कर्ष के बिन्दु से पतन की ओर जाता है, कार्य सिद्धि में बाधक तत्त्वों के शासन का सब तरह से प्रयत्न होता है, फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है। श्रद्धा का उपदेश सुनकर मनु का ताण्डव नृत्य देखना, फिर श्रद्धा से उन चरणों तक ले चलने के लिए प्रार्थना करना, अवमर्श सन्धि के अन्तर्गत है। निर्वहण सन्धि कथा के बिखरे सूत्रों को एक में मिलाती है, कथानक में पूर्णता लाती है। फल का निश्चय, जो अवमर्श सन्धि में प्रारम्भ हुआ था, इसमें पूर्ण हो जाता है। इस सन्धि में सभी पात्रों को सन्तोष, आनन्द, वरदान तथा पुण्य फल का लाभ होता है। यह फलागम तथा कार्य को मिलाने वाली सन्धि है। त्रिबिन्दुओं को देख कर मनु का उनके विषय में प्रश्न पूछना, श्रद्धा द्वारा प्रत्येक बिन्दु का रहस्योद्घाटन तथा उनके मिलने से शृंगी, डमरू आदि का बजाना आदि निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत है।

कामायनी की वस्तुगत उन विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए जो अन्य महाकाव्यों में नहीं पाई जाती। अन्य महाकाव्यों

में कथानक की सृष्टि जिस पात्र को केन्द्र मान कर होती है प्रायः उसी में कथा का सदाश्रयत्व निहित रहता है परन्तु कामायनी में ऐसा नहीं है। इसमें कथानक सृष्टि नायक—मनु को केन्द्र मानकर हुई है किन्तु कथा का सदाश्रयत्व नायिका में निहित है।

हिन्दी, संस्कृत या अँगरेजी के महाकाव्यों की कथाएँ प्रायः अपने राष्ट्र तक ही प्रचलित रहती है। उनमें अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व-जनीन रूप नहीं दिखाई पडता। इसलिए उन महाकाव्यो का कथानक अपने राष्ट्रहृदय से ही रागात्मक संबध स्थापित करने मे समर्थ होता है, विश्वहृदय से नहीं। किन्तु कामायनी के नायक-नायिका—मनु और श्रद्धा की कहानी हिन्दू घरों में ही नहीं, हिन्दुओं के पुराणों, वेदों, उपनिषदों मे ही नहीं वरन् आडम और ईव, आदम तथा होवा के नाम से यहूदियों तथा यवनों के पुराणों मे भी प्रचलित है। इस लिए इसका कथानक राष्ट्र हृदय से रागात्मक संबध रखते हुए अन्त र्राष्ट्रों के हृदयो से भी रागात्मक संबंध स्थापित करने मे समर्थ हुआ है, जिससे इस महाकाव्य का मूल्य, कथानक की इस विशेषता के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

कामायनी के कथानक की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें पौराणिक कथाओ की आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करके ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है तथा इसके साथ ही मनोवैज्ञानिक रूपकत्व का निर्वाह भी हुआ है। पश्चिमी शिक्षा के चश्मे से पुराणों को कपोल-कल्पित तथा वाग्जालमात्र रूप में देखने वालों को यह बत-लाया गया है कि उनके भीतर सारी ऐतिहासिक तथ्य निहित है, पुराणों में पुराना इतिहास भरा है—इसे यहाँ वालों ने भी स्पष्ट कहा है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

अर्थात् वंशानुचरित मे ऐतिहासिक तथ्य निहित है।

प्रत्येक युग परम्परागत इतिहास को प्रदीप्त करके भविष्य की ओर ज्योति विकीर्ण करता है। उसके प्रकाश मे प्राचीन सस्कृति नया रग पकडती है। युग का कवि वर्तमान की आँख से अतीत की ओर देखता है और वर्तमान तथा अतीत की जन्यजनक-सबधी कल्पना अतीत को बुला लेती है। प्रसादजी मे यही बात थी; इसीलिए उनके नाटको तथा काव्यों मे ऐतिहासिक कथानक रहने पर भी युग की महत्त्वपूर्ण समस्याओं—जैसे व्यक्तिवाद, समाजवाद, सामन्तवाद, बुद्धिवाद, अहिंसावाद, नारी-स्वातन्त्र्य आदि पर प्रकाश मिलता है।

अब रही कथानक की रूपकात्मकता या अध्यवसान-आरोप-मयता। श्रद्धा तथा मनु की कथा इतनी प्राचीन है कि उसका वर्णन इतिहास तथा रूपक दोनो रूपों मे हमारी अनुश्रुतियो मे मिलता है। तथ्यसग्रहकारी, घटनाओ मे अत्यधिक अतिरञ्जना तथा चरित्रो में भावात्मकता के कारण रूपक का आरोप सुविधा से कर लेते हैं। इसी आधार पर कुछ आलोचक इसे रूपकात्मक काव्य मानते हैं। इस भ्रम को स्पष्ट करने के लिए रूपकात्मक तथा यथार्थ (प्रकृत) महाकाव्य का अन्तर* स्पष्ट कर देना आवश्यक है—यथार्थ महा-काव्य का कथानक ख्यातवृत्त होता है पर रूपकात्मक काव्य का कल्पित, पहले के पात्र सजीव और प्राय ऐतिहासिक होते है, दूसरे के पात्र निर्जीव और प्राय: अमूर्त भावों के प्रतीक होते है, जैसे, अँगरेजी-साहित्य में फेअरी क्वीन, जिसमें पाप-पुण्य पात्र रूप मे आते है। पहले में कवि, सजीव पात्रो द्वारा मानव-जीवन की वास्तविक समस्याओं पर विचार करता है, दूसरे मे कवि अमूर्त

*उपर्युक्त अन्तर ऐबरक्रौम्बी की 'दी इपिक' नामक पुस्तक के आधार पर दिया गया है।

भावों द्वारा आध्यात्मिक जीवन का रहस्य सुलझाता है। पहले का मूल्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो से होता है, दूसरे का केवल आध्यात्मिक मूल्य होता है। पहले में कवि समाज का चित्र खीचता है दूसरे मे आध्यात्मिक तथ्य का निदर्शन। प्रकृत महाकाव्य मे यदि रूपक आता भी है तो वह गौण रूप से कथा के मूल प्रवाह मे कहीं-कही व्यक्त होता है; सर्वत्र नही। किन्तु रूपकात्मक काव्य मे प्रतीकों का निर्वाह आदि से अन्त तक सर्वत्र होता है। रूपकत्व की प्रधानता के कारण इसमे कथा का स्वारस्य नष्ट हो जाता है किन्तु प्रकृत काव्य मे वर्तमान रहता है। उपर्युक्त अन्तर पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कथा की दृष्टि से कामायनी वस्तुत यथार्थ महाकाव्य है। इस प्रकृत महाकाव्य मे रूपक का समावेश, भौतिक तथा आध्यात्मिक, लौकिक तथा अलौकिक के सामञ्जस्य के लिए किया गया है जिससे इसका मूल्य सार्वभौम तथा सार्वकालिक हो सके।

— —

विलास की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी उसकी अहिंसा, परमार्थ, त्याग, उदारता और सौमनस्य आदि उदात्त वृत्तियों में परिवर्तन नहीं होता। मनु निर्बल पात्र है। वह परिस्थितियों का दास है। उसके संस्कारों से स्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता है। आरम्भ में वह विलास से घृणा करता है, किन्तु परिस्थितियों के वश मे होकर फिर विलास मे फँसता है। अन्त मे श्रद्धा द्वारा उसका उद्धार होता है।

नाटक, उपन्यास, काव्य सर्वत्र प्रसादजी मे एक ऐसा पात्र आता है जिसका चरित्र दूध का धोया होता है। उसके द्वारा सभी पात्रों का निस्तार होता है। जैसे अजातशत्रु मे मल्लिका, 'तितली' मे रामनाथ, उसी प्रकार कामायनी मे श्रद्धा है। कथा का सदाश्रयत्व, श्रद्धा के चरित्र में निहित है। यह मनु, इडा आदि सभी पात्रों का निस्तार करती है, इतना ही क्यों, वह जड-चेतन, नभवसुधा मे सर्वत्र आनन्द की सृष्टि करती है। उसे हम तरण-तारिणी कहे तो अनुचित नहीं। 'प्रसादजी' की प्रवृत्ति है कि वे सदा प्रबल पात्र का पक्ष लेते हैं। श्रद्धा का ही पक्ष लेने के कारण उन्होंने महाकाव्य का नाम कामायनी रक्खा। शेक्सपियर के समान प्रसादजी अपनी नायिकाओं के चरित्र-चित्रण मे अधिक सतर्क दिखलाई पडते है। अस्तु, इनकी नायिकायें भी स्वास्थ्य, सौन्दर्य, विश्वास, प्रेम आदि उदात्त गुणों की प्रतिमा है। प्रसादजी की सभी रचनाओं में प्रेम का सन्देश है अत. उनके सभी पात्र प्रेम के विभिन्न स्वरूप दिखाते हैं। श्रद्धा में भारतीय गृहिणी का आदर्श प्रेम है, जिसका सौन्दर्य लोक-जीवन के भीतर ही नहीं प्रत्युत उसके बाहर भी (अलौकिक-जीवन में) दिखलाई पड़ता है। मनु के द्वारा विलासी प्रेम का चित्र दिखाया गया है।

प्रसादजी चरित्र का विकास पात्रों को घटनाचक्रों में डालकर

परिस्थितियों द्वारा कराते है, क्योंकि मेरेडिथ* के समान उनकी दृष्टि मे उस चरित्र का कोई मूल्य नही जो परिस्थितियों द्वारा निर्मित नही होता। उन्होने श्रद्धा मे सेवा, दया, ममता, त्याग, अनुराग, परमार्थ आदि गुणो का विकास परिस्थितियों द्वारा दिखाया है। शील का दिग्दर्शन काव्य मे तभी अच्छा होता है जब पात्रगत चारित्रिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति उसमें कई बार दिखाई जाय। मनु की अहमहमिका विलासिता, स्वार्थ-भावना का चित्रण कवि ने कामायनी मे कई स्थलों पर किया है। इसी प्रकार श्रद्धा मे ममता, माया, त्याग, सेवा आदि के उदाहरण ग्रन्थ मे बार-बार मिलते है। चरित्र निर्वाह के लिए प्रसादजी ने पात्रों के जीवन में पूर्वापर सम्बन्ध का यथोचित ध्यान रक्खा है। श्रद्धा मे पहले जैसी करुणा, सेवा, त्याग, समर्पण, दान, उदारता नि.स्वार्थता आदि की भावना दिखलाई पड़ती है, वही अन्त तक बनी रही। एक बार जब वह कहती है कि सच्चे प्रेम में देना ही देना है, लेना नही, तो उसका उदाहरण भी अपने जीवन द्वारा वह सदा प्रस्तुत करती है।

चरित्रो के मार्मिक अश पर तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि प्रसादजी ने कामायनी में सभी पात्रों के केवल महत्त्व-पूर्ण और मार्मिक अश ही को चुना है और उनका सकेतात्मक चित्र खींचा है। कामायनी के चरित्राङ्कण की सबसे प्रमुख विशेषता मनोवैज्ञानिक मनोरमता है। ऐसी मनोवैज्ञानिक मनोज्ञता कामायनी क अतिरिक्त हिन्दी के किसी भी आधुनिक काव्य में नहीं मिलेगी। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्रसादजी ने महा-

---

* And indeed a character that does not wait for circumstances to shape it, is of small worth

—Meredith.

काव्य मे अन्तर्वृत्तियों की व्यञ्जना पर ही विशेष ध्यान रक्खा है। एक परिस्थिति या एक घटना के भीतर अधिक से अधिक कितनी मानववृत्तियाँ जग सकती है, उनकी अभिव्यक्ति मे कवि सदा प्रयत्नशील है। स्थल और अवसर के अनुसार पात्रो का प्रवेश नाटकीय ढङ्ग से कराकर कवि ने चरित्र-चित्रण में नाटकीय रमणीयता भी भर दी है। किससे, कब, किस प्रकार, कौनसी बाते करने से क्या परिणाम उत्पन्न हो सकता है, इसे 'प्रसादजी' भली भाँति जानते है। चिन्ता, वासना, श्रद्धा, लज्जा, काम आदि सर्गों मे तत्सम्बन्धी केवल एक मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण नही है, प्रत्युत उसके साथ आनेवाली अन्य अनेक मानव भावनाओं का भी चित्र खीचा गया है। क्योकि कोई भाव अकेले नही आता, उसके साथ अन्य भावनाएँ भी सहकारी रूप मे आती है।

लज्जा उत्पन्न होने पर स्त्रियो के शरीर और मन की क्या दशा होती है, यदि इसे जानना हो तो लज्जा नामक सर्ग पढ़ जाइए। लज्जा के समय किस प्रकार मुग्धा स्त्रियो की आखे नीची हो जाती है, उनसे सामने देखा नहीं जाता, मन मे उन्माद छा जाता है, अन्तजगत् में हलचल मच जाती है, सकोच से शरीर सिकुड़ने लगता है, खुलकर हँसी नहीं आती, अपूर्व सौन्दर्य विकीर्ण होने लगता है—आदि बातों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन वहाँ मिलेगा। मानव-मन की विविधवृत्तियो के ऐसे चतुर चितेरे हिन्दी-साहित्य मे विरले ही दिखाई पड़ते है।

चरित्रों की ऐतिहासिकता पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। ऐतिहासिक पात्र केवल अतीत का ज्ञान कराता है; परन्तु साहित्यिक (काव्य का) पात्र अतीत घटनाओ का ही ज्ञान नही कराता वरन् वर्तमान काल की गति-विधि समझाने में सहायक बनकर भविष्य

की गति की ओर भी इङ्गित करता है। इसी सिद्धान्त का ध्यान रखकर प्रसादजी ने अपने पात्रों को नवयुग की चेतना से स्पन्दित किया है जिससे वे अतीत का ज्ञान कराते हुए साम्प्रत समस्याओं पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। इतिहास का सम्बन्ध व्यष्टि से होता है और काव्य का समष्टि से। समष्टि से तात्पर्य यह है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति अमुक समय तथा परिस्थितियों में अमुक प्रकार का कार्य कर सकता है। इसी लिए काव्यगत पात्र ऐतिहासिक पात्रों से अधिक सत्य तथा स्थायी होता है। ऐतिहासिक सीता और राम पर किसी को अविश्वास भले ही हो जाय पर तुलसी के सीता-राम की सत्ता तो सभी सिर झुकाकर स्वीकार करते हैं। कामायनी के सभी प्रमुख पात्र मानव वृत्तियों के प्रतीक हैं। उनका चरित्र तथा स्वभाव भी उन वृत्तियों के अनुकूल है। श्रद्धा-मनु इड़ा-सभी प्रमुख पात्र मानवता के विभिन्न पक्षों के प्रतीक हैं। इस प्रतीकात्मता के कारण उनका काव्यात्मक स्वरूप उनके ऐतिहासिक स्वरूप एवं सत्ता से अधिक विश्वसनीय हो गया है। पौराणिक श्रद्धा और मनु को लोग भले ही कपोल-कल्पित कहें; पर कामायनी की श्रद्धा और मनु को पढ़कर उनकी सत्ता में भला कौन अविश्वास करेगा? प्रसादजी ने श्रद्धा और मनु का नवनिर्माण नहीं वरन् पुनर्निर्माण किया है; परन्तु उनके पुनर्निर्माण से पात्रों की पौराणिकता नष्ट नहीं हुई है। हरिऔधजी ने तो प्रिय-प्रवास में कृष्ण को इतना आधुनिक बना दिया है कि उनकी पौराणिकता नष्ट हो गई है, पर प्रसादजी ने श्रद्धा, मनु तथा इड़ा में नव युग की चेतना भरकर भी उनकी पौराणिकता मिटने नहीं दी। साकेतकार ने भी राम-लक्ष्मण को उर्मिला के विरह से ढक दिया है; परन्तु कामायनी में किसी पौराणिक अप्रसिद्ध पात्र का इतना विशद वर्णन नहीं किया गया कि जिससे प्रसिद्ध पात्रों का व्यक्तित्व ढक

की उपेक्षा करते है। अशरीरी अवस्था वहाँ प्रारम्भ होती है जहाँ मनु को पितृत्व का ज्ञान होता है और वात्सल्य-भाव मे उनका हृदय भर जाता है। उस समय वे अपने शरीर से अलग होकर अपने पुत्र का ध्यान करने लगते हे।

"सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल।"

मनु के वात्सल्य पूर्ण होने पर पति-पत्नी दोनो की आत्माये मिलकर एकाकार हो जाती है। वस्तुत माँ होने पर नारी पुरुष से तभी रीझती है जब वह (पति) बच्चे को उसी के समान प्यार करने लगता है। गृहस्थी की यही पूर्णता है और तभी गृहस्थ के कल्याण ~ पथ खुलता है।" श्रद्धा माँ हो चुकी थी परन्तु मनु विलासिता मे रमण कर रहे थे। इसलिए जब तक वे विलासिता नद मे डूबे रहे तब तक उन्हे गृहस्थी का सुख नही मिला और ~ पा सुख की मरीचिका मे मृग के समान भटकते रहे। कवि [illegible] के चरित्र द्वारा बतलाया है कि श्रद्धा ऐसी पतिव्रता स्त्री है। [illegible] उसे जीवन मे मनु के समान ही भट- तट पर पहु[illegible] [illegible] मनु के समान अपनी पत्नी को तथा आगे सारस्वत [illegible] का आनन्दपूर्ण पथ मिलेगा। मनु के

"वा[illegible] -पुत्रप्रेम, कुटुम्ब-स्नेह—होने के
यह [illegible] तो व श्रद्धा [illegible] यह जानकर
सारस्वत-प्रदेश मे छोड़
× ×
कुछ मेरा हो यह राग भाव के चरित्र से
सकुंचित पूर्णता है अज्ञान। स्नेह
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम,
नम मे पहला स्थान दिया।।"

महोत्सव की प्रतीक, सुन्दर बाला को देखकर उसकी ओर खिंच जाना स्वाभाविक है। तदनन्तर मनु का इड़ा के ऊपर नियन्त्रित प्रेम तथा परिणय की इच्छा करना भी प्राकृतिक है क्योंकि वे अनियन्त्रित प्रेम का दुष्परिणाम श्रद्धा के साथ भोग चुके थे। जब इडा राष्ट्र की मर्यादा बचाने के लिए उनके बद्ध-परिणय के प्रस्ताव को नहीं स्वीकार करती तब वे उसे बलात् अपनी रानी बनाना चाहते है। मर्यादा उल्लघन क कारण परिणाम, घोर सघर्ष तथा विप्लव के रूप मे दिखाई पड़ता है। मनु के इडा तथा श्रद्धा दोनो सम्बन्धो द्वारा कवि ने दिखाया है कि नारी के साथ सहयोग करने से ही मानव सुखी हो सकता है। इसी अभाव से मनु को न तो श्रद्धा से तृप्ति मिली न इड़ा से।

इतिहास की ओर दृष्टि न डालनेवालों को मनु के प्रारम्भिक चरित्र की कुछ बाते—जैसा श्रद्धा के पुत्र-प्रेम से ईर्ष्या, वासना क अधिकता, सारस्वत प्रदेश की निरंकुशता—खटक सकती है। ... के आरम्भिक उपादानो के समावेश के आग्रह के कारण ... मनु में स्त्री के पुत्र-प्रेम पर ईर्ष्या की कल्पना करनी ... सृष्टि क आदि-पुरुष है। उस समय मानव ... में भला था। ईर्ष्या, वासना आदि स्वाभाविक ... मनु का नवनिर्माण मात्रा में थीं। यथार्थवाद का आग्रह ... पुनर्निर्माण से पात्रों कर सकता है। दुर्ललित वासना ... हरिऔधजी ने तो प्रिय-प्रवास आदि तत्त्व देव-सृष्टि के ... दिया है कि उनकी पौराणिकता से इनके प्रभाव ... ने श्रद्धा, मनु तथा इड़ा मे नव युग की थी। ... पौराणिकता मिटने नहीं दी। साकेतकार भी ... को उर्मिला के विरह से ढक दिया है; परन्तु ... में किसी पौराणिक अप्रसिद्ध पात्र का इतना विशद ... न नहीं किया गया कि जिससे प्रसिद्ध पात्रों का व्यक्तित्व ढक

अविरुद्ध ही है। सृष्टि के प्रारम्भ-काल में मातृसत्ता के पश्चात् सामन्त-प्रथा का ही उदाहरण मिलता है। सामन्त-युग मे व्यक्तिवाद का प्राबल्य था। शासक स्वेच्छाचारी होते थे। इसलिए मनु नियामक होते हुए भी नियम का पालन नहीं करते। मनु के शासन से प्रजा धन-धान्य से पूर्ण है। कला-कौशल भी समृद्धिशालिनी स्थिति में है किन्तु मनु की निरंकुशता एव स्वच्छन्दता प्रजा को सह्य नहीं। अतः सारस्वत प्रदेश मे विद्रोह की आग भडक उठी। इस विद्रोह मे वर्तमान क्रांतिकारी युग का स्वर मंद-मंद सुनाई पडता है। किलाताकुलि की प्रेरणा से मनु ने हिंसा-पूर्ण पशु-यज्ञ किया। मृगया खेलने का भी उन्हे बहुत चाव है। निरीह पशुओ की हिंसा करने की भावना मनु मे सृष्टि के उस आरम्भिक हिंसकवृत्ति को स्पष्ट करनेवाली है जब मानव जङ्गल मे रहता था, मृगया उसकी जीविका का साधन था।

महाकाव्य के आरम्भ से ही मनु के चरित्र में द्वन्द्व का अच्छा चित्रण है। इस द्वन्द्व की चरम सीमा इडा सर्ग मे दिखलाई पडती है। निर्बाध वासना की तृप्ति के लिए मनुश्रद्धा को छोड़ सरस्वती तट पर पहुँच आए है। उनके हृदय मे श्रद्धा के पास लौट जाने तथा आगे सारस्वत प्रदेश में बढने का द्वन्द्व मचा हुआ है—

"वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी,
यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान।

× × × ×

कुछ मेरा हो यह राग भाव,
संकुचित पूर्णता है अज्ञान।
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम,
तम मे पहला स्थान दिया॥"

मनु जीवन के इस भ्रम से अभी मुक्त नहीं हुए हैं कि उस एकान्त प्रदेश मे नयन-महोत्सव की प्रतीक सुन्दर बाला इडा आ जाती है और मनु को 'हाँ तुम ही हो अपने सहाय' कहकर अपना उजडा घर बसाने का प्रस्ताव करती है। मानव परिस्थितियों का दास तो है ही, मनु जिस वासनापूर्ण जीवन की अभी निन्दा कर रहे थे उसी मे पुन फँस जाते है। इस प्रकार मनु विषम परिस्थितियो से आक्रान्त हो अन्त मे श्रद्धा द्वारा आनन्द को प्राप्त होते है। इस प्रकार कवि ने मनु के चरित्र द्वारा महाकाव्य मे साधनावस्था का प्रवेश किया है। मनु के जीवन में वासना की अधिकता, भोग की ओर प्रवृत्ति, ईर्ष्या, दम्भ, अहमहमिकता, ममत्व आदि का प्रदर्शन, उनको मन के प्रतीक रूप में उपस्थित करने के लिए किया गया है। नहीं तो जहाँ तक मनु मानवरूप मे उपस्थित किये गये है, वहाँ तक उनमे दया, स्पष्टता, अपने अपराधों पर ग्लानि आदि मानव-गुण वर्तमान है। प्रलय से बचे किसी प्राणी के लिए अन्न रख आना उनकी दया का परिचायक है। मुमूर्षु मनु रणस्थल मे श्रद्धा को अकस्मात् देखकर अपने अपराध पर इतनी अधिक ग्लानि से भर जाते है कि उनको श्रद्धा के सामने मुँह दिखाना कठिन हो जाता है, और व उसी रात को वहाँ से भाग जाते है।

साहसिकता, वीरता, परुषता, स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दप्रियता स्वायत्त की चाह, विजय की इच्छा, प्रतिशोध की भावना, शासन करने, नियामक बनने की प्रवृत्ति आदि मनु की जातिगत विशेषताएँ हैं। (स्वतन्त्रता या स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो आदि से अन्त तक उनमे दिखलाई पडती है। वे श्रद्धा या इडा किसी के पास भी शासित होना सहन नही कर सकते। स्वायत्त की चाह तो उनमे सर्वत्र बनी हुई है।) सारस्वत प्रदेश की सम्पूर्ण विद्रोही प्रजा से युद्ध करना, उनकी वीरता, निर्भीकता एव प्रतिशोध-वृत्ति का परिचायक है—

"वह प्रतिशोध अधीर रक्त बन बहता पानी।"

मनु के चरित्र में कवि ने यथार्थवाद का बहुत ही सुन्दर पुट दिया है। उनके चरित्र मे उत्थान तथा पतन दोनों है। जातिगत तथा व्यक्तिगत दोनों विशेषताएँ हैं। पतन मे चरम यथार्थवाद का स्वरूप है। उत्थान केवल अन्त मे दिखाया गया है। उत्थान की व्यञ्जना सदाचारमूलक है। एक ओर उनकी जातिगत विशेषताएँ उनके यथार्थवादी रूप को व्यक्त करती है तथा दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ उनके प्रतीकवादी रूप को व्यञ्जित करती है। मनु मानव-परम्परा के पिता है, अत उनमें मानव के सभी गुण-अवगुण वर्तमान है। (मनुष्य मे सत्-असत्, भली-बुरी तथा मानव-दानव, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती है। परिस्थिति-विशेष के कारण कभी किसी का प्राधान्य हो जाता है, कभी किसी का। यही मनु मे है। वे परिस्थितियों के अनुसार कहीं बहुत भावुक—कहीं बहुत तार्किक, कहीं बहुत विलासी—कहीं बहुत विरक्त, कहीं स्नेहशील—कहीं निर्मम, कहीं परुष—कहीं उदार, कभी चिन्ताशील—कभी आशान्वित दिखाई पड़ते है

इड़ा

इड़ा का चरित्र जहाँ तक स्त्री रूप में है वहाँ तक नीति, मर्यादा, उत्तरदायित्व, कर्तव्यबुद्धि, रागवृत्ति, समर्पण की भावना, क्षमा, सहनशीलता व्यवस्था-शक्ति आदि स्त्रियोचित गुणों से युक्त दिखाई पड़ता है। परन्तु जहाँ वह बुद्धि के प्रतीक रूप में आई है वहाँ चञ्चलता, संघर्ष, विप्लव, विद्रोह उत्पन्न करती हुई दिखलाई पड़ती है। स्त्री-रूप में वह मनु से प्रेम करती है, परन्तु उनके समान मर्यादा को त्यागकर नहीं, कर्तव्य-बुद्धि से रहित होकर नहीं उत्तर-दायित्व की उपेक्षा करके नहीं। उसके मनु सम्बन्धी प्रेम से केवल उसकी रागवृत्ति की भावना ज्ञात होती है। सिद्धान्त-दृढ़ता उसमें इतनी अधिक है कि उसका उल्लङ्घन उसके प्रिय से प्रिय व्यक्ति द्वारा होने पर भी उसका विरोध करती है, जैसा मनु के साथ में उसने किया। मनु प्रजा के लिए नियम बनाते हैं परन्तु स्वयं उसका पालन नहीं करते, वे निर्बाधित अधिकार भोगना चाहते हैं। इड़ा उन्हें दो-एक बार समझाती है—

> "आह प्रजापति यह न हुआ है,
> कभी न होगा।
> निर्बाधित अधिकार आज तक—
> किसने भोगा।।"

इड़ा के द्वारा समझाने पर भी मनु जब नहीं मानते तब वह उनके विरुद्ध प्रजा द्वारा घोर विद्रोह कराकर युद्ध करती है।

मनु का प्रेम लोक-धर्म का तिरस्कार करनेवाला एवं नितान्त ऐकान्तिक है, परन्तु इड़ा प्रेम करते हुए भी लोक-धर्म के पालन में पूर्ण सतर्क तथा सावधान दिखाई पड़ती है। मनु के जिस परिणय से लोक-धर्म, लोकनीति एवं समाज मर्यादा में विघ्न पड़ने की आशङ्का है, उसको उनके द्वारा कई बार बलात्कार करने पर भी वह स्वीकार नही करती, परन्तु लोक-कल्याण करनेवाले, श्रद्धा द्वारा प्रस्तावित मानव-परिणय को वह स्वीकार कर लेती है।

स्त्रियों मे व्यवस्था-बुद्धि पुरुषों से अधिक होती है वह इड़ा मे भी है। उसकी ही सुव्यवस्था, राष्ट्रनीति का परिणाम है कि उसकी प्रजा धन, धान्य से पूर्ण है, कला-कौशल, व्यापार आदि में भी समृद्धशाली है। "मनु की सतत सफलता की वह उदय विजयिनी तारा थी।" मनु तो उससे सदा प्रणय तथा परिणय की बातें करते है पर वह सदा मनु को लोक-धर्म की शिक्षा देती है—

ताल-ताल पर चलो नही लय छूटे जिसमे,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो इसमें।
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया मे,
प्राण सदृश ही रमो राष्ट्र की इस काया मे॥

इड़ा मे सहनशीलता तथा 'क्षमा गुण भी वर्तमान है। वह मनु-कृत बलात्कार को कई बार सहन कर लेती है। परन्तु जब वे किसी तरह नही मानते तब उसे राष्ट्र-कल्याणार्थ विद्रोह करना पड़ता है। रण-स्थल में मनु मुमूर्षावस्था मे एकाकी पड़े है, वहाँ भी उनकी सेवा करते इड़ा ही दिखाई पड़ती है। इस प्रकार वह एक ओर मनु से विद्रोह करके राष्ट्र-कल्याण, लोक-धर्म का पालन करती है, दूसरी ओर मुमूर्षावस्था में मनु की सेवा कर अपनी

व्यक्तिगत शालीनता का परिचय देती है। रण-स्थल में ही श्रद्धा अपने कुमार को लिए आ पहुँचती है। जब इड़ा अपने को श्रद्धा के सुहाग छीनने का कारण समझ कर ग्लानि से भर जाती है और उससे क्षमा माँगती है, उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बुद्धि हृदय के ऊपर किये गये अत्याचारों को स्वीकार करती हुई उससे क्षमा-याचना कर रही है।

> जिसपर मैंने छीना सुहाग,
> हे देवि! तुम्हारा दिव्य राग।

   

> दो क्षमा, न दो अपना विराग,
> सोई चेतनता न उठे जाग।।"

इड़ा भी ऐतिहासिक पात्र है। वह, मनु के सारस्वत नगर पहुँचने के पूर्व, राष्ट्रप्रतिनिधि के रूप में मानव इतिहास के आदि युग –मातृसत्ता-युग को उपस्थित करती है। यह मानव इतिहास का वह युग था जब मातृ-शक्ति की प्रधानता थी। प्रबन्ध का भार नारी पर था। इस युग में साम्यवाद का आदिम स्वरूप दिखाई पड़ता है। इड़ा के शासन-काल में सारस्वत-प्रदेश में साम्यवाद का ही स्वरूप रहा होगा, क्योंकि मनु के पहुँचने के पूर्व वहाँ वर्ग, जाति आदि का निर्माण नहीं हुआ था। धनी-निर्धन, ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं था। शासन का स्वरूप लोकतन्त्र रूप में था। इड़ा राष्ट्र-प्रतिनिधि थी। उसके शासन-काल में सब लोग धन-धान्य से पूर्ण तथा सुखी थे।

वेद में इड़ा के ऊपर पूरा एक सूक्त ही मिलता है। वहाँ भी वह ज्ञानपक्ष के प्रतीक रूप में वर्णित है। पुराणों में मनु की कन्या के रूप में तथा शतपथ ब्राह्मण में मनु की पालित कन्या के

रूप मे दिखाई पडती है। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे इडा मनु की कन्या के रूप मे नही आती। मनु का इडा की ओर आकर्षित होना कवि की निजी कल्पना है।√ हो सकता है कि यह घटना किसी दूसरी पौराणिक घटना के आधार पर निर्मित की गई हो। इडा का वैदिक स्वरूप कामायनी म मिलता है अर्थात् ऋग्वेद के आधार पर ही प्रसाद ने इडा के बुद्धिवाद के प्रतीक रूप मे रक्खा है। पार्जिटर क कथनानुसार ऐतिहासिक दृष्टि से इडा का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इडा के पुत्र पुरूरवा से आगे चलकर यदुवंश तथा चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई। कवि इतिहास लिखने तो बैठा नही था कि इन सभी वृतान्तो का लेखा-जोखा करता। हाँ, यह बात अवश्य है कि कामायनी मे काव्य की साध्य-प्राप्ति के साथ साथ इन चरित्रो की ऐतिहासिक महत्ता भी प्रतिपादित हो गई है।

भाषा तथा भावाभिव्यक्ति

काव्य की भाषा केवल अर्थ-बोध कराने के लिए नहीं होती, वह भावोन्मेष के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन भी कराती है। अन्य वाङ्मयों—विज्ञान, ज्योतिष, दर्शनआदि– की भाषा नियत अर्थ के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ व्यक्त नही करती, परन्तु कवि की वाणी जितने अधिक से अधिक अर्थों की व्यञ्जना करेगी, उतने ही उत्कर्ष को प्राप्त होगी। नियत अर्थ तक पहुँचने के लिए अन्य वाङ्मय अभिधा शक्ति से ही काम लेते है, किन्तु काव्य, प्रस्तुत के अतिरिक्त अन्य अर्थों की व्यञ्जना के लिए अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा और व्यञ्जना का भी सहारा लेता है। कविता की भाषा कलामय होती है परन्तु विज्ञान की कलाहीन भाषा शैली का प्रधान उपकरण ही नहीं, कवि के परम साध्य भावाभिव्यञ्जन का प्रधान साधन भी है। वह शैली का ही सौन्दर्य वर्द्धन नहीं करती, भाव सौन्दर्य भी बढाती है। अतएव किसी भी कवि का काव्य-सौन्दर्य दिखाते समय उसकी भाषा का विवेचन करना परम आवश्यक है।

भावाभिव्यञ्जन की दृष्टि से भाषा के दो पक्ष होते है—साकेतिक तथा बिम्ब-विधायक। एक मे भाषा अर्थ-बोध कराती है, दूसरे मे बिम्बग्रहण। वर्णन मे सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का ही अधिक प्रयोग करते है। कामायनी मे इसी दूसरे पक्ष का अधिक अवलम्बन लिया गया है। भाषा की चित्रमयता मे प्रसादजी की

तुलना अँगरजी के प्रसिद्ध कवि रोजेटी से की जा सकती है। कामायनी की भाषा मे तीन प्रकार के चित्र मिलते है—शब्दचित्र, वस्तुचित्र तथा भावचित्र।

शब्दचित्र इस काव्य मे स्थान-स्थान पर मिलते है। 'अरी आँधियो! ओ बिजली की दिवारात्रि तेरा नर्तन'। 'बिजली की दिवारात्रि' मे चित्रोपमता की पराकाष्ठा है। वस्तुचित्रों के उदाहरण प्राय रूप वर्णन या प्रकृतिवर्णन में मिलत है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसादजी ने वस्तु-चित्रो के अङ्कन मे व्यञ्जनात्मक शैली से अधिक काम लिया है। ये किसी वस्तु के मार्मिक अश का चित्र इस प्रकार खड़ा करते है कि व्यञ्जना द्वारा उसका अवशिष्ट अंश पूरा हो जाता है।

> धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से,
> अङ्कित सुन्दर स्वच्छ निशीथ।
> जिसमे शीतल पवन गा रहा,
> पुलकित पावन हो उद्गीथ।

उपर्युक्त छन्द मे कवि ने पवन के पावन उद्गीथ द्वारा मनु के पावन आश्रम-यज्ञ, सामगान, मन्त्र आदि की व्यञ्जना करा दी है। ऐसी व्यञ्जनाएँ साधारण बुद्धिवालो के लिए कठिन हो सकती है, पर इसमे जो काव्य भरा है वह किसी सहृदय से छिपा नही। कामायनी क भावचित्रों की रमणीयता, प्रभविष्णुता तथा विस्तार वस्तुचित्रा से उत्कृष्ट है। भावो को मूर्तरूप देने मे कवि ने लक्षणाशक्ति का अधिक आश्रय लिया है, जिससे भाव सुग्राह्य होकर हृदय से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते है। चिन्ता नामक भाव का एक चित्र देखिए :—

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी भरी-सी दौड़ धूप ओ,
जलमाला की चल रेखा!

अब भाषा के चित्रमयता के प्रधान साधन लक्षणा पर विचार करना चाहिए। भिन्न भिन्न दृष्टियों से लक्षणा के भिन्न-भिन्न भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम, रूढ़ अर्थ और प्रयोजन-प्राप्त अर्थ की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हुए—रूढिवती तथा प्रयोजनवती। सादृश्य तथा असादृश्य के आधार पर प्रयोजनवती के गौणी तथा शुद्धा दो भेद हुए। फिर मुख्य अर्थ ग्रहण तथा त्याग, आरोप एवं अध्यवसान की दृष्टि से इन दोनों के; उपादान, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना भेद हुए। आधुनिक कवियों की लक्षणाएँ प्राय ऐसी होती हैं जिनमे किसी प्रकार का सादृश्य सम्बन्ध नही रहता अर्थात आजकल शुद्धा लक्षणा की प्रधानता काव्यक्षेत्र में दिखलाई पड़ती है। पर उत्तम कोटि की लक्षणा गौणी ही होती है क्योंकि इससे स्वरूप-बोध मे सहायता मिलती है। यद्यपि आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार कामायनी मे शुद्धा की ही प्रधानता है पर गौणी के भी उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। अब इनमें से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण लीजिए और देखिए कि उनसे किस प्रकार भाषा में चित्रमयता, अर्थवृद्धि तथा चमत्कार आदि गुण उत्पन्न हो गए हैं। सबसे पहले प्रयोजनवती लक्षणाओं का उदाहरण देखिए—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अञ्चल।
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चञ्चल।

उपर्युक्त छन्द में साध्यवसाना गौणी लक्षणा का कैसा सुन्दर प्रयोग है। यहाँ 'पगली' शब्द, रात्रि के लिए, 'अञ्चल' आकाश के लिए और 'मणिराजी' तारात्रों के लिए प्रयुक्त है। केवल अप्रस्तुतों द्वारा ही प्रस्तुत का संकेत किया गया है। प्रस्तुत का यह अध्यवसान गुणसाधर्म्य के कारण है। इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति में साध्यवसाना पाई जाती है इस लक्षणा द्वारा चमत्कार की सृष्टि अधिक होती है। सारोपा गौणी का एक उदाहरण लीजिए—

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी ऐंठी-सी॥

रूपक अलङ्कार में सारोपा का प्रयोग मिलता है। सारोपा गौणी में, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में साधर्म्य मिलना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण में उपमेय 'धरा' और उपमान 'वधू' का साधर्म्य बहुत स्पष्ट है। शुद्धा उपादानलक्षणा का उदाहरण लीजिए—

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में।
प्राण-सदृश तुम रमो राष्ट्र की इस काया में॥

राष्ट्र की काया में शुद्धा उपादानलक्षणा है। यहाँ दूसरा अर्थ आने पर भी मुख्य अर्थ का बिल्कुल बाध नहीं है। लक्षण लक्षणा का एक उदाहरण देखिए:—

'प्रगतिशील मन रुका एक क्षण करवट लेकर।'

मन के लिए करवट लेना सम्भव नहीं इसलिए मुख्य अर्थ का बिल्कुल बाध है। यहाँ मन के करवट लेने का अर्थ है मन का बदलना। इस अर्थ की सिद्धि के लिए वाच्य-अर्थ छोड़ दिया गया है।

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण प्रायः मुहावरों के अन्तर्गत मिलता है। मुहावरों का प्रयोग भी सर्वप्रथम किसी न किसी प्रयोजन को ही लेकर चलता है। बहुत दिनों तक बराबर प्रयोग में आने से उनका प्रयोजन लोगों को भूल जाता है। केवल रूढ़ि नहीं मिटती। रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण कामायनी में प्रयुक्त मुहावरों के भीतर सर्वत्र मिलता है। अस्तु, उनके उदाहरण प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी अमूर्त उपमेय को मूर्त उपमान द्वारा गोचर करने में जहाँ प्रसाद की चेष्टा स्तुत्य है वहीं मूर्त उपमेय को भाव रूप में खड़ा करने में उनका प्रयत्न दर्शनीय है। उपमान कथन में सर्वत्र लाक्षणिकता तथा अतिशयोक्ति रहने से कथन के तत्त्वबोध में कृत्रिमता अवश्य आ गई है, परन्तु भाव-जगत् में कथन का यह ढङ्ग बहुत पुराना है। मनुष्य भावातिरेक में अपने प्रिय जन से यह कहा करते हैं 'तुम्हीं मेरे सुख हो' परन्तु यह पद्धति जब अधिक व्यङ्ग्य मार्ग का अनुसरण करता है तो भाषा दुर्बोध हो जाती है। कामायनी में ऐसे दुर्बोध स्थल भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं। श्रद्धा और मनु दोनों प्रकृति के रमणीय क्षेत्र में भ्रमण कर रहे हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य्य ने मनु के मन में रति भाव उत्पन्न कर दिया है। मनु को, श्रद्धा पहले से अधिक सुन्दर प्रतीत हो रही है। श्रद्धा के इस अभूतपूर्व सौन्दर्य-दर्शन से मुग्ध होकर मनु उससे पूछते हैं:—

> कौन हो तुम विश्व-माया-कुहक सी साकार।
> प्राण-सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार॥
> हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्राम।
> थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश॥

उपर्युक्त पंक्तियों में लाक्षणिकता बहुत दूर तक गई है। व्यंग्य भी अत्यन्त गूढ़ है। शास्त्र के अनुसार उपमान प्रसिद्ध एवं

चमत्कारपूर्ण होना चाहिए। उसके साधारण धर्म में उपमेय से अधिक वैशिष्ट्य होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार 'विश्व-माया-कुहक' या 'प्राण-सत्ता के मनोहर भेद' का उपमानत्व शास्त्रीय दृष्टि से अनुचित है, क्योंकि ये उपमान न तो समय-सिद्ध उपमानों के अन्दर आते हैं और न उनमें उपमेय के सौन्दर्य से अधिक वैशिष्ट्य ही है। ऐसे अप्रसिद्ध उपमानों के लाने से रसोद्रेक में बाधा पहुँचती है। चन्द्रमा तथा पङ्कज सदृश उपमान लक्षणा में रूढ हो गये हैं। इसलिए सर्वसाधारण उन्हें सरलता से समझ जाते हैं। प्रसाद की लाक्षणिकता का अधिक अंश रूढि पर स्थित न होकर प्रयोजन के आधार पर खड़ा है। वे प्रतिभा तथा सूझ के बल पर प्रयोजन के अनुसार प्रकृति के रमणीय क्षेत्र से नये-नये लाक्षणिक प्रयोगों की उद्भावना किया करते हैं। अतः ऐसे नवीन लाक्षणिक प्रयोग अप्रसिद्ध उपमानों के कारण भाषा में कहीं-कहीं दुरूहता ला देते हैं।

प्रसादजी ने अपनी संस्कृत-मनोवृत्ति के अनुसार जिस प्रकार तत्सम-प्रधान भाषा को माध्यम बनाया, उसी प्रकार संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली को अपनाकर अपने को भाषा-सम्बन्धी काव्य के मूलतत्त्व 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' से परिचित भी सिद्ध किया। वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो कविता के क्षेत्र में न तो प्रभुसम्मित आदेश ग्राह्य है और न सुहृद्सम्मित शिक्षा। उसमें कान्तासम्मित (व्यञ्जनामूलक) संकेत ही प्रयोजनीय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी ध्वनिप्रधान काव्य है और इसमें सर्वत्र कान्तासम्मित उपदेश वर्तमान है। आधुनिक सत्काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार इसमें भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि की ही प्रधानता है अविवक्षित वाच्यध्वनि को लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ का उपयोग

नहीं होता अर्थात वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। इस ध्वनि में गूढ़-व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा का समावेश रहता है। उदाहरण लीजिए—

> आज यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह।
> पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह॥
> मैं ? कहाँ मैं ? ले लिया करते सभी निज भाग।
> और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग॥

उपर्युक्त पद्य में "मैं ? कहाँ मैं ?" में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य-ध्वनि है। यहाँ द्वितीय 'मैं' का वाच्यार्थ अर्थान्तर में सक्रमण करता है अर्थात् लक्ष्यार्थ में प्रवेश करता है। मैं का लक्ष्यार्थ है—जिसका श्रद्धा की सब वस्तुओं पर अधिकार है। इस द्वितीय अर्थ में वाच्यार्थ के संक्रमण करने का कारण उसका (वाच्यार्थ का) उपयोग में न आना है। यह अनुपयोग दो प्रकार का होता है—एक पुनरुक्ति में और दूसरे जब वाच्यार्थ प्रकरण अर्थ में किसी विशेष अर्थ की सिद्धि न करता हो। उपर्युक्त उदाहरण में पुनरुक्ति पद्धति का अवलम्बन किया गया है।

संलक्ष्य व्यंग्यध्वनि का एक उदाहरण लीजिए —

> "चञ्चल तू नभचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं।
> मैं डरती तू रूठ न जाये कैसे करती तुझे मना॥"

यहाँ वाच्यार्थ (मानव के रूठने) का बोध होने के पश्चात् व्यंग्यार्थ (जैसे मनु रूठ गये वैसे तू भी न रूठ जाय) की प्रतीति होती है। सलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहीं शब्द द्वारा कहीं अर्थ द्वारा और कहीं शब्द और अर्थ दोनों द्वारा प्रतीत होता है। यहाँ शब्द द्वारा प्रतीत हुआ है।

शब्दशक्ति से उद्भूत-ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि

तथा अलङ्कार ध्वनि। वस्तु-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वस्तु व्यग्य हो। अलङ्कारध्वनि वहाँ आती है जहाँ अलङ्कार व्यग्य हो। उपर्युक्त उदाहरण मे वस्तु ध्वनि है। अलङ्कार ध्वनि का एक उदाहरण लीजिए —

नीरव थी प्राणों की पुकार।

मूर्च्छित जीवन सर निरतरङ्ग नीहार घिर रहा था अपार।
नि:स्तब्ध अलस बनकर सोयी चलती न रही चञ्चल बयार॥
पीता मन मुकुलित कञ्ज आप अपनी मधु बूँद मधुर मौन।
निस्वन दिगन्त मे रहे रुद्ध सहसा बोले मनु अरे कौन॥

यहाँ इडा को देखकर मनु की नि:स्तब्धता का वर्णन व्यग्य द्वारा ही हुआ है। इस वर्णन में व्यग्य द्वारा रूपक अलङ्कार की ध्वनि है। मनु के हृदय-रूपी कमल के भीतर उनका मन रूपी मधुकर मकरन्द-रूपी भावनाओ का आनन्द ले रहा है।

कामायनी मे उत्तम कोटि का ही नहीं, वरन् मध्यम कोटि का भी व्यग्य मिलता है। जैसे गुणीभूत व्यग्य—

कल ही यदि परिवर्तन होगा,
तो फिर कौन बचेगा।
क्या जाने कोई साथी बन॥
नूतन यज्ञ रचेगा।

यहाँ काक्वाक्षिप्त व्यग्य है। उपर्युक्त छन्द मे नूतन शब्द पर बल पडने से व्यंग्य आक्षिप्त होता है। 'नूतन' शब्द का यहाँ व्यग्यार्थ है 'हिंसापूर्ण' जो स्वर के बल से प्रतीत होता है।

अब कामायनी के अलङ्कार-प्रयोग पर भी यहाँ विचार कर लेना चाहिए। अलङ्कार पर विचार करते समय यह देखना चाहिए कि प्रसादजी ने भाषा को अलकृत करने के लिए अलङ्कारो

का प्रयोग किया है या भावों में उत्कर्ष लाने के लिए अथवा वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया का तीव्र अनुभव कराने के लिए। 'भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त' वाला केशव का अलङ्कार-सिद्धान्त कामायनी पर लागू नहीं हो सकती, प्रसादजी ने मम्मट के काव्य-सिद्धान्त 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' को अपने काव्य ग्रन्थों में सत्य सिद्ध कर दिया है। इसका यह तात्पर्य नही की कामायनी में अलङ्कार है ही नहीं। इसमें बहुत से छन्द ऐसे हैं जिनमें अलङ्कार न होने पर भी कवित्व पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। प्रसादजी अन्य कवियों के समान रमणीय वस्तुओं की योजना अलङ्कार के बल पर नहीं करते। कामायनी में थोड़े-बहुत जो अलङ्कार मिलते हैं वे वाणी की सजावट के रूप में नहीं प्रत्युक्त भावाभिव्यक्ति के साधन रूप में। कामायनी में सादृश्य-मूलक अलङ्कारों—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, उदाहरण, अतिशयोक्ति आदि की संख्या अधिक मिलेगी। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा आदि का प्रयोग अधिक पाया जाता है। स्वाभाविक अनुप्रासों के प्रयोग से भाषा में एक सहज आकर्षण उत्पन्न हो गया है—

कङ्कण क्वणित रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार।

*   *   *

अपना कल कण्ठ मिलाते थे,
झरनों के कोमल कलकल में।

उपर्युक्त पंक्तियों में अनुप्रास के सहज आकर्षण के अतिरिक्त शब्दमैत्री तथा नाद-सौन्दर्य भी अत्यन्त सुन्दर है। श्लेष तथा वीप्सा के प्रयोग में कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई है।

प्रसाद की सादृश्य-योजना में दो सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं—स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता। जहाँ अगोचर तथ्यों के लिए गोचर सादृश्य का आश्रय लिया गया है वहाँ कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध पर है :—

'कीर्ति किरन सी नाच रही थी'

जहाँ मूर्त के लिए अमूर्त सादृश्य की योजना हुई है वहाँ कवि का लक्ष्य भावोत्कर्ष या भाव-तीव्रता है। जैसे—

जल मज्ञात विलास वेग सा बढ़ने लगा

कुछ सादृश्यों में दोनों गुण वर्तमान हैं। इस प्रकार के सादृश्य लज्जा सर्ग में अधिक हैं। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में सबसे प्रधान है उपमा अलङ्कार, जिसका प्रयोग कामायनी में सबसे अधिक हुआ है। कामायनी में प्रयुक्त उपमाओं को हम चार भागों में बाँट सकते हैं।

मूर्त से मूर्त की उपमा :—

उधर गरजती सिन्धु-लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी॥

अमूर्त से अमूर्त की उपमा—

निकल रही थी मर्मवेदना करुणा विकल कहानी सी

मूर्त उपमान से अमूर्त उपमेय की तुलना—

अरी नीच कृतघ्नते। पिच्छल शिला संलग्न।
मलिन काई सी करेगी हृदय कितने भग्न॥

अमूर्त उपमान से मूर्त उपमेय की उपमा—

आ गया फिर पास क्रीडाशील अतिथि उदार।
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार॥

उपमाओं में लाक्षणिकता प्राय: सर्वत्र मिलेगी। रूपक अलङ्कार का प्रयोग अधिकतर प्राकृतिक दृश्य चित्रण या नारी रूप वर्णन मे हुआ है। प्रसाद मे तुलसी के समान बहुत लम्बे रूपक नही मिलते। उत्प्रेक्षा अलङ्कार अधिकतर व्यंग्य रूप में है। सदेह तथा उदाहरण अलङ्कारो की सख्या कामायनी में बहुत थोडी है।

लक्षणा, व्यञ्जना तथा अलङ्कारों का आश्रय लेने पर भी जब भाषा वास्तविक अर्थ तथा सौन्दर्य को व्यक्त करने मे असमर्थ होता है तब कवि मूक भाव-व्यञ्जना का आश्रय लेता है। परन्तु इसका अधिक प्रयोग कवि की असमर्थता सूचित करता है। कामायनी मे भी मूक भाव-व्यञ्जना का प्रयोग हुआ है किन्तु ऐसे उपयुक्त स्थलों पर जहाँ कि उसका प्रयोग अत्यन्त उचित जान पड़ता है।

हे अनन्त! रमणीय! कौन तुम,
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।

सम्बोधन के शब्द अनन्त तथा रमणीय कितने सार्थक है। वस्तुत जो अनन्त हो, असीम हो, उसके लिए अवर्णनीय के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है? ऐसे ही स्थलों पर पुरानी कवि-परम्परा मे "कहि न सक सहस सारदा शेष" की परिचित पदावली मिलती है।

प्रसाद की अभिव्यञ्जना मे तीन प्रकार के प्रयोग मिलते है—प्राचीन, व्यक्तिगत तथा विदेशी।

एक प्राचीन प्रयोग का उदाहरण लीजिए—

देव कामिनी के नयनो से,
जहाँ नील नलिनी की सृष्टि।

इसी प्रकार की उक्ति तुलसी तथा जायसी मे मिलती।

जहँ विलोक मृग-सावक-नयनी।
जनु तहँ बरस कमल सित श्रेनी॥—तुलसी

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

—जायसी

प्रसादजी के व्यक्तिगत प्रयोगों से कामायनी भरी पडी है। उनमे से दो-चार का दिग्दर्शन यहाँ कीजिए—

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
अवगुंठन आज सँवरता-सा।
जिसमे अनन्त कल्लोल भरा,
लहरों में मस्त विचरता-सा॥

लहरों मे मस्त विचरता सा, प्रसादजी का व्यक्तिगत प्रयोग है। इसी प्रकार तारों के लिए 'तम के सुन्दरतम रहस्य' रात्रि के लिए 'इन्द्रजाल जननी' कल्पना के लिए 'शिशुचित्रकार', देवताओ के लिए 'सर्ग के अग्रदूत' आदि सैकडों व्यक्तिगत प्रयोग कामायनी मे मिलते हैं। पन्त के समान प्रसाद मे विदेशी (अँगरेजी के) प्रयोग अधिक नही मिलते। कामायनी मे तो खोजने पर दो-एक अँग्रेजी प्रयोग मिलेंगे। जैसे 'शाश्वत नभ के गानो मे' Eternal-music of the sphere" का, उष्ण विचार warm feeling का तथा बोझ-सी ढोती to bear the burden का

अनुवाद-सा जान पड़ता है। यत्र-तत्र फारसी की उपमाएँ भी कामायनी मे मिलगी।

> इन्द्रनीलमणि महा चषक था,
> सामरहित उलटा लटका।

आकाश की उपमा चषक से देना फारसी-साहित्य मे बहुत प्रचलित है। भारतीय साहित्य मे ऐसी उपमाओ का प्रचार नहीं है।

एक और उदाहरण लीजिए—

> चेतना रङ्गीन ज्वाला परिधि मे सानन्द।
> मानती सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द।
> अग्निकीट समान जलती है भरी उत्साह।
> और जीवित है, न छाले हैं, न उसमें दाह॥

अन्तिम दो पंक्तियो मे फारसी का प्रभाव स्पष्ट है। चेतना का अग्निकीट से उपमा देना और 'रङ्गीन ज्वाला' मे उसका जलना फारसी का प्रभाव है।

काव्य का वास्तविक सौन्दर्य विशेषणों के उचित प्रयोग पर निर्भर है। बहुत से कवि मात्रा-पूर्ति के लिए छन्दों मे अप्रासङ्गिक तथा अनुचित विशेषण ठूँस-ठूँसकर भरते है, जिससे काव्यसौन्दर्य नष्ट हो जाता है। विशेषणों का ऐसा प्रयोग होना चाहिए जिनसे विशेष्यो के रूप, गुण तथा कार्य-व्यापार मे वैशिष्ट्य की वृद्धि हो तथा क्रिया के साथ उनकी अन्विति हो।

> क्या तुम्हें देखकर आते यों,
> मतवाली कोयल बोली थी।

'मतवाली' विशेषण कितना साभिप्राय है। वह कोयल के गुण तथा अवस्था को व्यक्त करने मे पूर्ण समर्थ है।

घिर रहे थे घुघॅराले बाल,
अस अवलंबित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।

उपर्युक्त छन्द मे नील शब्द विशेष्य के रूप को स्पष्ट करता है।

'चलती न रही चञ्चल बयार'।

यहाँ पर चञ्चल की अन्विति क्रिया से है सचित्र विशेषणों का प्रयोग आधुनिक युग की कविता की प्रमुख विशेषता है। कविवर पन्त मे इस कला का पूर्ण विकास पाया जाता है। प्रसाद के विशेषण सचित्र होते है। उनम भाषा की शक्ति तथा कल्पना का सयम मिलता है। प्रथम सर्ग मे चिन्ता के विशेषण इसी प्रकार के है। नक्षत्र के लिए कवि के विशेषण 'तम के सुन्दरतम रहस्य' 'अनन्त की गणना', आदि बड़े भव्य है। रजनी का विशेषण 'इन्द्रजाल जननी' कितना व्यञ्जना पूर्ण है। इनके विशेषण कही चित्रमय होते है और कही कल्पना प्रधान जैसे 'बिजली की दिवारात्रि' चित्रमय विशेषण है। चिन्ता के लिए विशेषण 'विश्व वन की व्याली' काल्पना प्रधान है।

कामायनी की भाषा की एक प्रमुख विशेषता है—श्रुति सुखदता, और इसका कारण है—श्रुति कटु शब्दों का परित्याग, 'उग्र तथा कठोर भावों मे भी कोमल वर्णों का प्रयोग, सगीत मयता कतिपय विशेष स्वरों का आगम तथा लोप, रनगों का एक दूसर मे द्रवित होना तथा सुन्दर शब्द मैत्री का प्रयोग। इसी श्रुति सुखदता के लिए प्रसादजी ने कामायनी मे कही-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों- गेल, बीन, परस, नखत, प्रान्तर आदि का प्रयोग किया है। श्रुति

मधुरता के कारण भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ काव्य का नाद सौन्दर्य भी बढ गया है। इसी विशेषता के कारण कामायनी की भाषा, माधुर्य-गुण प्रधान हो गई है। माधुर्य-गुण का इतना आधिक्य तुलसी, सूर तथा मीरा को छोड़कर हिन्दी के और किसी कवि में नहीं मिलेगा।

कामायनी तक आते-आते प्रसादजी की भाषा अत्यन्त शुद्ध परिमार्जित तथा प्रौढ़ हो गई है। 'झरना' की भाषा की शिथिलता इसमे कही नही है। वस्तुत भाषा की सफलता अलङ्कारों का कौतुक दिखाने में नही, उक्ति वैचित्र्य का इन्द्रजाल रचने में नही, वरन् कवि की आत्मा व्यक्त करने में है, जिससे कवि की अनुभूति पाठक की अनुभूति हो सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी की भाषा इस दृष्टि से पूर्ण सफल है। जो प्रसाद की अभिव्यक्तिप्रणाली से अपरिचित हैं, उनकी अनुभूति से अनभिज्ञ है अथवा भाषा में प्रवीण नही है वे ही कामायनी की भाषा पर क्लिष्टत्व दोष मढते है। क्लिष्टत्व दोष का नाम लेनेवालों को पहले उसकी परिभाषा जाननी या करनी चाहिए। क्लिष्टत्व दोष वहाँ होता है जहाँ अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति क्लेशसाध्य होती है या बहुत पेचीदे ढङ्ग से किसी अर्थ तक पहुँचा जाता है। पर कामायनी में काव्य की स्वीकृत-वक्रोक्ति-पद्धति के अतिरिक्त वह घुमाव-फिराव कहीं नही दिखाई देता जिसे हम क्लिष्टत्व की सीमा के अन्तर्गत ले सकें। जिन्हे वक्रोक्ति-पद्धति ही क्लिष्ट ज्ञात होती है उन्हे काव्यानुशीलन का अभ्यास करना चाहिए।

कामायनी की भाषा मे उँगलियों पर गिनी जाने योग्य कुछ त्रुटियाँ भी है, जो उसके गुणों के सामने नगण्य सी है, किन्तु दूसरा पक्ष छोड़ दिया गया, इस आक्षेप की आशङ्का से उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—

दो एक स्थलों पर उपमाओं का साम्य भ्रामक है।—जैसे नीचे की पंक्ति में देखिए—

हृदय कुसुम की खिली अचानक,
मधु से भीगी वे पाखें।

कवि को यहाँ हृदय और कुसुम दोनों का साम्य देखना चाहिए परन्तु कवि ने इसका ध्यान नहीं दिया। कुसुम में पङ्खड़ियाँ तो होती हे परन्तु हृदय मे पङ्ख नही होता। इसलिए 'पाँखे' शब्द केवल कुसुम की ओर लगता है, हृदय की ओर नही। अतः साम्य अपूर्ण है। सादृश्य-योजना मे कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि पुल्लिङ्ग उपमेय के लिए पुल्लिङ्ग ही उपमान रक्खे जायँ। प्रसाद जी कही-कही इसकी उपेक्षा करते हुए दिखलाई पडते है।

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर,
तरङ्गो से फेकी मणि एक।

यहाँ पुरुष मनु के लिए स्त्री-लिङ्ग उपमान 'मणि' आया है किन्तु ऐसी सादृश्य योजनाओं का उद्देश्य जब लिङ्गत्व-बोध होगा, तभी ये अनौचित्य की सीमा के अन्तर्गत आयेगी। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद की उपर्युक्त सादृश्य-योजना का साध्य लिङ्गत्व-बोध नही है वरन् मनु की कान्ति, दीप्ति आदि की प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति। कहीं-कही कामायनी की भाषा मे दो एक अनुपयुक्त शब्द भी दिखाई पडते है।

सित सरोज पर क्रीडा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

यहाँ क्रीड़ा शब्द उपर्युक्त नहीं है क्योंकि क्रीड़ा मे गति होती है। परन्तु पराग कमल के भीतर स्थिर रहता है। इसलिए पराग के

लिए क्रीडा शब्द अनुपयुक्त है। यत्र तत्र दो एक निरर्थक शब्द भी दिखाई पडते हैं।

हाँ कि गर्व रथ मे तुरङ्ग सा,
जितना जो चाहे जुन ले।

यहाँ कि शब्द व्यर्थ है। पादपूर्ति के अतिरिक्त इसका और कोई उपयोग नहीं है।

काव्य गत भाषा रचना-सम्बन्धी कुछ दोष भी कामायनी में मिलते हैं। जैसे समाप्त पुनरात्त का एक उदाहरण लीजिए—

कौन हो तुम वसन्त के दूत,
विरस पतझड मे, अति सुकुमार।

यहाँ 'मे' के पश्चात् वाक्य समाप्त हो गया। परन्तु 'अति सुकुमार, विशेषण द्वारा यह वाक्य फिर उठाया गया है। कामायनी मे कहीं-कहीं मधुर पदावली के बीच कुट्टी, छुट्टी, उत्तुङ्ग आदि कर्णकटु शब्द ऐसे खटकते हैं जैसे मधुर भोजन में छोटी कङ्कडी।

एकाध स्थान पर तुक के लिए तोडे मरोड़े शब्द भी मिलते हैं। जैसे आराधना के लिए 'अराधना'।

भावाभिव्यक्ति

कामायनी की भावाभिव्यक्ति पर भी यही विचार कर लेना चाहिए। आचार्य अभिनव गुप्त ने भावाभिव्यक्ति की दो प्रणालियाँ बतलाई है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति—कामायनी मे इसी दूसरी प्रणाली का अधिक अनुगमन किया गया है। परन्तु प्रसाद की वक्रोक्तिप्रणाली कुन्तक की 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' वाली प्रणाली नही है। उनका अपना स्वतन्त्र मार्ग है जिसमे वचनवक्रता अपेक्षित तो अवश्य है, पर वही तक जहाँ तक वह हृदय की किसी गहरी अनुभूति से सम्बन्ध रखती हो। उनकी वचनवक्रता का कारण अनुभूति की तीव्रता है, काव्य-कौशल दिखाने का आडम्बर नही। प्रसादजी की दृष्टि मे वक्रोक्ति का मूल्य उक्ति की विचित्रता मे नही वरन् भावना की तीव्रता और गहराई उपस्थित करने मे है। उनकी वक्रोक्ति सर्वत्र भावानुमोदित है अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से प्रेरित। कामायनी की वक्रोक्ति में वह 'वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति' नहीं जिसमें रीति भावों के ऊपर शासन करती हो। वे केवल चमत्कार दिखाने के लिए उक्ति वैचित्र्य का प्रयोग, काव्य में कौतुक या खेलवाड समझते है। इसी कारण वे अलङ्कारवादी कवियो को बुद्धिवादी कहकर उनसे अरुचि प्रकट करते है। उनकी वाणी मे वक्रता रहने पर भी हमारा ध्यान भाषा के बाँकपन की ओर नही जाता, भावों की ओर ही अग्रसर होता है क्योकि उनकी वक्रता सर्वत्र उमडते हुए भावो की प्रेरणा से ही उद्भूत है।

अब यह देखना चाहिए कि उक्ति-वैचित्र्य का काव्य मे क्या स्थान है और उस दृष्टि से प्रसादजी की वक्रोक्ति काव्य के

लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त? उक्ति-वैचित्र्य पर विचार करते हुए एक स्थान पर शुक्लजी ने बतलाया है कि भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति रखने के लिए काव्य में वक्रता प्रयोजनीय वस्तु है। बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप मे बात कही जाती है उसी रूप मे उसे रखने से सहानुभूति नही जगती। बात इस रूप मे रखनी पड़ती है जो भाव जगाने में समर्थ हो इसी से कहा गया है कि "इतिवृत्तिमात्रनिर्वाहेण नात्मपदलाभः" अत काव्य में वक्रता आदरणीय वस्तु है परन्तु वही तक जहाँ तक वह भावना तथा अनुभूति से सम्बद्ध है। प्रसाद की भावाभिव्यक्ति मे वक्रता इसी रूप मे गृहीत है। उनकी दृष्टि मे वक्रता के लिए अनुभूति की तीव्रता अपेक्षित है, काव्य-कौशल नहीं, क्योंकि अभिव्यक्ति-सहृदयो के लिए उतनी व्यापक सत्ता नहीं रखती जितनी अनुभूति। उनके वर्ण-विन्यास मे चमत्कार है, परन्तु अत्यन्त विहित है, उनकी वाणी मे विदग्धता तथा रमणीयता है, परन्तु वह अनुभूति-जन्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रसाद की वक्रोक्ति का सम्बन्ध भाव-व्यञ्जना के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत से नहीं। इसी कारण कामायनी में भाव-व्यञ्जना के बाह्य जगत से सम्बन्ध रखनेवाले अलङ्कार, विभावना, श्लेष, विशेषोक्ति पर्यायोक्ति, परिसख्या, विषम आदि नहीं मिलते।

रीतिकाल मे वक्रोक्ति की दो प्रणालियाँ दिखलाई पड़ती है। पहली अलङ्कार-आश्रित है दूसरी लक्षणामूलक। पहली प्रणाली का अवलम्बन लेनेवाले केशव, देव, पद्माकर, बिहारी आदि कवि हुए। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत घनानन्द दिखाई पडते है। कहना नहीं होगा कि प्रसाद की वक्रोक्ति प्रणाली घनानन्द की प्रणाली से मिलती हुई भारतीय प्रणाली है। परन्तु कामायनी की

वक्रोक्ति-प्रणाली में घनानन्द के समान किसी एक ही पद्धति (विरोधाभास—Paradox) की अधिकता न होने के कारण कृत्रिमता नहीं आने पाई है।

कामायनी मे लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण सत्व को असत्व तथा असत्व को सत्व रूप में देखकर अपनी प्राचीन अभिव्यञ्जना प्रणाली से अपरिचित विद्वान् प्रसादजी पर अँगरेजी के पुरुषीकरण अलङ्कार के अनुकरण की घोषणा कर देते है। उन्हे यह ज्ञात नही कि सैकड़ों वर्ष पहले आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि काव्यस्वतन्त्रतया॥"

पुरुषीकरण अलङ्कार की अधिकता का कारण प्रसादजी की भावुकता है। इस भावुकता के द्वारा वे चेतन को अचेतन तथा अचेतन को चेतन रूप देते हैं। वे अपने सहज-सौन्दर्य-बोध के द्वारा विश्व में विस्तृत-सौन्दर्य के वास्तविक उपादानो को लेकर उनसे कल्पित सौन्दर्य को और भी विभूषित कर उन्हे अधिक से अधिक रमणीय बनाते रहते है। उनकी यह रमणीय योजना अन्य कवियों के समान उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति के आधार पर नहीं है।

प्रसादजी की शैली अन्य महाकाव्यकारों के समान वस्तु-वर्णन मे शैली प्रगीत मुक्तकों की व्यञ्जनावाली शैली है जिसमें किसी वस्तु का ब्यौरेवार वर्णन नही होता। केवल वर्ण्यविषय के मार्मिक अंशों का चयन इस प्रकार होता है कि व्यञ्जना द्वारा छूटे हुए अशों की भी पूर्ति हो जाती है। इस प्रणाली का अवलम्बन लेने से कामायनी में नीरस या इतिवृत्तात्मक स्थल कहीं भी नहीं आने पाये है, सर्वत्र मार्मिकता तथा रमणीयता वर्तमान है।

छन्द-विधान

कामायनी मे लगभग एक दर्जन छन्दो का उपयोग हुआ है। सामान्य दृष्टि से तो ऐसा जान पड़ता है कि सभी छन्द नये हैं किन्तु परीक्षा करने पर तीन या चार छन्दों के अतिरिक्त सभी छन्द पिङ्गल ग्रन्थों मे मिल जाते है। कामायनी के सभी छन्द मात्रिक है। उनका तीन विभाग किया जा सकता है—शास्त्रीय छन्द, मिश्र छन्द तथा प्रसाद छन्द। पहले-शास्त्रीय छन्दो पर विचार करना चाहिए।

कामायनी का प्रधानशास्त्रीय छन्द ताटङ्क है। यह सोलह और चौदह मात्राओं के विराम से ३० मात्राओं का छन्द है। इसके अन्त म मगण (ऽऽऽ) होता है। किसी किसी ने एक ही गुरु माना है। लावनी भी इस ढङ्ग से गाई जाती है। परन्तु उसके अन्त मे लघु-गुरु का कोई विचार नही होता। ताटङ्क के अन्त मे यदि एक लघु वर्ण जोड़ दिया जाय तो वही वीर छन्द हो जाता है, जिसे आल्हा भी कहते है। चिन्ता, आशा, स्वप्न तथा निर्वेद प्रकरणों में ताटङ्क छन्द का प्रयोग हुआ है; जो कभी कभी लावनी की स्वच्छन्दता भी धारण कर लेता है और कभी वीर छन्द मे परिवर्तित हो जाता है, किन्तु उसकी गति मे इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि पाठक या श्रोता को शीघ्र प्रकट नही होता। विशेष ध्यान देने पर ही उनका अन्तर स्पष्ट होता है। यथा—

उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो-चार खड़े।

—ताटङ्क।

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन।

—लावनी

नीचे प्रलय-सिन्धु लहरों का होता था सकरुण अवसान।

—वीर छन्द।

चिन्ता, आशा तथा निर्वेद सर्ग मे प्रत्येक दो पक्तियो का तुक मिलता है। किन्तु 'स्वप्न' मे प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ पक्तियाँ एक सी है तृतीय पक्ति अतुकान्त है। इसमे तुक-प्रणाली फारसी की रुबाइयो सी है।

श्रद्धा में शृगार छन्द प्रयुक्त है। इसके प्रत्येक चरण मे १६ मात्रा होती है, अन्त में ऽ। का क्रम रहता है।

कौन तुम ससृति जलनिधि तीर,
तरङ्गो से फेकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।

इसमें कही कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त मे ।ऽ भी कर दिया जाता है। यथा—

तरल आकाक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद।

काम तथा लज्जा सर्ग में पदपादाकुलक का प्रयोग हुआ है। यह १६ मात्राओ का छन्द है जिसके अन्त मे ऽ होता है।

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी फूलो के अञ्चल में।

वासना का प्रसिद्ध छन्द रूपमाला है। चौदह दस के विराम से इसमे २४ मात्राये होती है। अन्त मे ऽ। होता है। इसे मदन छन्द भी कहते है।

चल पड़े कब से हृदय दो, पथिक से अश्रान्त।
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रान्त।

कर्म में सार छन्द का उपयोग हुआ है। इसमें १६-१२ की यति से २८ मात्राये होती है और अन्त मे दो गुरु होता है। कभी-कभी एक ही गुरु होता है। किसी किसी कवि ने अन्त मे तीन गुरु माने है। इन तीनों रूपो का व्यवहार कर्म सर्ग मे हुआ है। सार को नरेन्द्र या ललित पद भी कहते है।

दो गुरु—फिर इस निर्जन मे खोजे
अब किसको मेरी आशा।
एक गुरु—परम्परागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियाँ।
तीन गुरु—जो अपने अभिनय से मन को
सुख मे उलझा लेती।

सघर्ष मे रोला का व्यवहार हुआ है। इसमें ११-१३ के विराम से २४ मात्राएँ होती है। किसी-किसी पिङ्गलकार का मत है कि इसके अन्त में दो गुरु अवश्य ही चाहिए; परन्तु यह सर्व-सम्मत नहीं।

किन्तु मिला अपमान और व्यवहार बुरा था।
मनस्ताप से सबके भीतर रोष भरा था॥

ईर्ष्या तथा दर्शन सर्ग में मिश्र छन्द का प्रयोग हुआ है। ईर्ष्या सर्ग मे प्रयुक्त छन्द का पहला चरण १६ मात्राओ का पद-पादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

पल भर की उस चञ्चलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार।

दर्शन सर्ग का छन्द, पद्धरि तथा पदपादाकुलक के मेल से बना है। प्रथम दो और अन्तिम दो पक्तियाँ पद्धरि छन्द की हैं। बीच की चार पक्तियों मे पदपादाकुलक है—

वह चन्द्रहीन थी एक रात।
जिसमे, सोया था स्वच्छ प्रात॥
उजले उजले तारक झलमल।
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल॥
धारा बह जाती बिम्ब अटल।
खुलता भी धीरे पवन पटल॥
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत।
सुनती जैसे कुछ निजी बात॥

पद्धरि छन्द १६ मात्रा का होता है। अन्त मे जगण अथवा केवल गुरु लघु होता है। पादाकुल मे चार-चार मात्राओ के चार चौकल होते है। अन्त मे प्राय: लघु होता है। पक्ति १, २, ७, ८, का तुक एक, और ३, ४, ५, ६, का दूसरे प्रकार का है।

प्रसादजी ने छन्दो के प्रयोग मे भी अपनी कर्तृत्व-शक्ति का परिचय दिया है। जिस प्रकार कामायनी के अन्य तत्त्व कर्त्ता की मौलिकता तथा स्रष्टापन का परिचय देते है उसी प्रकार छन्द भी। इड़ा, रहस्य तथा आनन्दसर्ग मे प्रसादजी के निजी छन्द प्रयुक्त है। इडा मे गीत पद का प्रयोग है। जिसमे प्रथम (टेक) तथा अन्तिम पक्ति १६ मात्राओ की तथा शेष ७ पक्तियाँ २२ मात्राओं की है। पंक्ति ५ तथा ६ मत्तसवैया से मिलती है। इनके अन्त में लघु-गुरु का प्रयोग है। अवशिष्ट अन्य पंक्तियों के अन्त में

गुरु-लघु का क्रम है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, अष्टम और नवम—इन पाँच पंक्तियों का तुक एक है। चतुर्थ, पञ्चम का तुक दूसरा है और षष्ठ तथा सप्तम का तीसरा।

किस गहन गुहा से अति अधीर।
झञ्झा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर।
ले साथ विकल परमाणु पुञ्ज नभ अनिल अनल क्षिति और नीर॥
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना मे विलीन।
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन॥
निर्माण और प्रतिपद विनाश मे दिखलाता अपनी क्षमता।
संघर्ष कर रहा था जब से, सब से विराग सब पर ममता॥
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर।
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर॥

ताटङ्क के अन्त मे एक गुरु जोड़कर कवि ने रहस्यसर्ग का छन्द बना लिया है। इसका लक्षण तो काम और लज्जा सर्ग के छन्द से मिलता है किन्तु गति मे सूक्ष्म अन्तर है—

उदाहरण—
ऊर्ध्वदेश उस नील नमस मे स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।
पथ थक कर है लीन चतुर्दिक देख रहा वह गिरि अभिमानी॥

आनन्द का छन्द आँसू का प्रसिद्ध छन्द है। इसमे १४-१४ के विराम से २८ मात्राये होती है—

जिस मुरली के निस्वन से,
यह शून्य रागमय होता।

छन्दो मे कहीं-कहीं यतिभङ्ग दोष मिलता है। जैसे—

मै बैठी गाती हूँ तकली के,
प्रतिवर्त्तन मे स्वर विभोर।
चल री तकली धीरे-धीरे,
प्रिय गये खेलने को अहेर॥

प्रथम पक्ति में यतिभङ्ग दोष है।

प्रसादजी वस्तुत प्रगीत-काव्य के कवि है। गीत-काव्य में जिस प्रकार उद्‌गारों का सौन्दर्य कोमल कलेवर रूप मे प्रकट होता है उसी प्रकार कामायनी मे भी प्रकट हो रहा है। इसलिए यह महाकाव्य गीत-काव्य की आत्मा से खिल उठा है। सभी छद भावानुरूप है। सब में सङ्गीत तत्त्व की प्रधानता है। छन्दो की सुगीतिता के कारण कामायनी का नाद-सौन्दर्य भी उसके भाव-सौन्दर्य के समान ही रमणीय तथा आकर्षक हो गया है।

रस-सञ्चार

प्रसादजी क्या जीवन क्या साहित्य; सर्वत्र आनन्दवाद के पृष्ठपोषक के रूप मे दिखाई पड़ते हैं। काव्य-जगत् मे उन्होंने रस को प्रधान मानकर आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। इसी सिद्धान्त पर उन्होंने साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की हैं*— आनन्द-प्रधान या रसात्मक तथा-बौद्धिक या आलङ्कारिक। उनकी रचनायें आनन्द-प्रधान या रसात्मक साहित्य के अन्तर्गत आती है। वे अलकारवादी, वक्रोक्तिवादी तथा रीतिवादी सम्प्रदायों को बुद्धिवादी मानते थे। उनके काव्य की आत्मा रीति या अलङ्कार नहीं वरन् रस है, जो अकेले ही आनद की सृष्टि करने मे पूर्ण समर्थ है। काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनन्द या रस का प्रवाह है, वहाँ आत्मा की सङ्कल्पात्मक प्रेरणा वर्तमान है। यह प्रेरणा प्रसादजी के काव्यों मे आत्म-शक्ति की वह असाधारण अवस्था है जो परम सत्य को अपने मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर काव्य मे सङ्क-ल्पात्मक अनुभूति के रूप में प्रकट होती है। अभिनवगुप्त भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन "आस्वादात्माऽनुभवोरसः काव्यार्थ-मुच्यते" द्वारा कर रहे है। तात्पर्य यह कि प्रसाद की रचना में विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव को बलात् एक स्थान पर बैठाने से रस-सृष्टि नहीं हुई है, वरन् आत्मा की सङ्कल्पात्मक अनुभूति ही रस रूप मे परिणत हो गई है। कामायनी उनके उक्त सिद्धान्त का उदाहरण है। इसमें कवि की दृष्टि केशव

---

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध का प्राक्कथन, पृष्ठ १५।

के समान काव्य मे बाहरी अङ्गों की योजना पर नही, वरन् रस-सृष्टि पर है।

"शैवागम* के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी, रस की दोनो सीमा—शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे।" इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी मे होने के कारण वह रस के दोनों सीमान्त प्रदेशों—शृंगार और शान्त को स्पर्श करती है। पात्रों द्वारा जिन स्थायी भावों की व्यञ्जना कामायनी में हुई है उनमे रति की व्यापकता होने पर भी उसका पर्यवसान शम मे ही हुआ है। किन्तु शम भी प्रकृति पुरुष की रति से ओत-प्रोत है। अतः इनको प्रबन्ध-ध्वनि शृंगार-रस ही ठहरती है। इनके अतिरिक्त वात्सल्य, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत तथा करुण रस अङ्ग रूप मे आये है। हास्य और वीभत्स का कामायनी मे अभाव ही समझना चाहिए।

काव्यगत अनुभूति दो प्रकार की होती है—भाव-जन्य तथा चमत्कार-जन्य। प्रथम प्रकार की अनुभूति मे सहृदय पाठक तद्वत् भाव-दशा को प्राप्त होता है, किन्तु दूसरे प्रकार की अनुभूति में उन भावों मे मग्न हो जाता है। यहाँ चमत्कार से तात्पर्य खेलवाड़ या कौतुक नहीं है, प्रत्युत यह चमत्कार, समानाधिकरण आह्लाद है अर्थात् जहाँ चमत्कार और आह्लाद दोनो एक भूमिका मे प्रतिष्ठित हो जाते है। कौतुक-मिश्रित चमत्कार भी एक प्रकार का चमत्कार ही है परन्तु उसमे चित्त का विस्फार नही होता। इसलिए उसे हम रस नहीं मान सकते। भाव-जन्य-स्थिति मे केवल अर्थ-प्रतीति होती है; किन्तु चमत्कार-जन्य स्थिति मे भाव भोग रूप मे सहृदय द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैसे किसी

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ७३।

जलती हुई कड़ाही के घी की गन्ध से पूड़ी की प्रतीति मात्र होती है। इस प्रतीति को भाव-दशा कहते है। परन्तु उस पूडी को जब हम खाते है तब उसका भोग होता है और तभी उसका आस्वाद भी जाना जा सकता है। इस भोग-स्थिति को ही रस दशा कहते है। रस में भावो का परिष्कार होता है। भावो का वेग उतनी ही मात्रा मे पाठक या श्रोता में नहीं उत्पन्न होता जिस मात्रा मे आश्रय मे उत्पन्न होता है, क्योकि ऐसी स्थिति मे सधारणीकरण उत्कट होने से क्षोभ उत्पन्न होता है। इस विक्षुब्धता के कारण आनन्द में बाधा पहुँचती है, और उसकी सात्विकता नष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि पाठक के हृदय में भावो की स्थिति छनकर [परिष्कृत होकर] सात्त्विक रूप मे आती है। इसी कारण स्थायी भाव और इनके नाम एक नहीं, भिन्न भिन्न है। उदाहरणार्थ करुण रस को लीजिए। करुण रस का स्थायी भाव, शोक है। शोक निज की इष्टहानि पर होता है और करुणा दूसरों की पीड़ा पर होती है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र के क्षोभ की व्यञ्जना-द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोक रस न कहकर करुण रस कहा है। रसोद्दीप्ति में मुख्य वस्तु आलम्बन है और आलम्बन भी निश्चित या विशेष व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि रस व्यक्ति से होता हुआ आता है जाति से नहीं। आलम्बन काव्यगत पात्र से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित रखते हुए भी अपने लोक-धर्म के कारण पाठक मात्र का आलम्बन हो जाता है तभी तो मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालता है तथा सहस्रों हृदय उसके भावो मे मग्न हो जाते हैं—जैसे रौद्र रस की सच्ची अभिव्यक्ति तभी होगी जब उसका आलम्बन लोक-पीड़क रूप मे दिखाया जायगा। व्यक्तिगत अपकार करनेवाले आलम्बन में क्रोध भाव ही तक रह जाता है।

भाव-विभाव दोनों पक्षों के सामञ्जस्य के बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो सकती। रस दशा समझ लेने के पश्चात् अब उसी सिद्धान्त से कामायनी के रसो पर विचार करना चाहिए। सबसे पहले शृगार रस को लीजिए क्योंकि वही इस काव्य का अङ्गी रस है। शृगार का रसराजत्व सुखात्मक तथा दु खात्मक वृत्तियो के ग्रहण से ही नहीं प्रत्युत सर्वभूत को आत्मभूत रूप मे देखने के कारण है। इसके रसराजत्व का दूसरा कारण इसकी बहुकालव्यापिनी स्थिति है। अन्य रस बहुत थोड़ी देर तक रहते हैं क्योंकि उनमे अधिक देर तक रमना मनुष्य-स्वभाव के लिए सम्भव ही नहीं। परन्तु शृगार मे तो जब तक वियोग या संयोग रहता है तब तक शृगार रस की व्याप्ति रहती है। शृगार रस मे आलम्बन की चेष्टाओं तक ही उद्दीपन नही रहता प्रत्युत उसके अन्तर्गत सारी प्रकृति आ जाती है। और किसी भाव मे मग्न रहनेवाला, आलम्बन की खोज मे रहता है परन्तु शृगार रस मे प्रेम-भाव का ऐसा रङ्ग चढ जाता है कि उसे सर्वत्र आलम्बन का ही रूप, रङ्ग, गरा, ध्वनि आदि सुनाई देती है। काम सर्ग के प्रारम्भ में मनु की काम दशा द्वारा यह स्थिति दिखाई गई है।

उदाहरणार्थ:—

जब लिखते थे तुम सरस हँसी,
अपनी—फूलों के अञ्चल मे।
अपनी कलकंठ मिलाते थे,
झरनों के कोमल कल कल मे।
निश्चिन्त आह वह था कितना
उल्लास काकली के स्वर मे।
आनन्द प्रति ध्वनि गूँज रही
जीवन दिगन्त के अम्बर मे।

शृङ्गार का स्थायी भाव रति है, जिसका जगना बाह्य या आभ्य-न्तर सौन्दर्य दर्शन पर आश्रित है। अतः नायक के हृदय में रति का उद्रेक करने के लिए नायिका का रूप वर्णन आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रसादजी ने कामायनी का रूप वर्णन श्रद्धा-सर्ग के आरम्भ में किया है। देखिए—

"घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास"।

मनु श्रद्धा की भावानुकूलता तथा सहानुभूति का अवलम्बन लेकर अपनी करुण कहानी सुनाते हैं। श्रद्धा द्रवीभूत होकर सहचरी होने का प्रस्ताव करती है। श्रद्धा द्वारा प्रथम प्रेम-प्रस्ताव उपस्थित कर कवि ने भारतीय परम्परा का निर्वाह किया है। स्त्री के प्रस्ताव करने पर पुरुष के हृदय में प्रेम की इच्छा जगना स्वाभाविक है। रति भाव को उद्दीप्त करने के लिए वासना सर्ग मे उद्दीपनो का विधान अत्यन्त रमणीय हुआ है।

"मधु बरसती विधु किरण है काँपती सुकुमार।
पवन मे है पुलक मन्थर चल रहा मधु-सार।
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों है प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर प्राण"।

मतवाली प्रकृति के इन मादक दृश्यों को देखकर मनु का मन श्रद्धा से मिलने के लिए क्यों न अधीर होता जब कि प्रकृति के प्रत्येक कोने से मिलने का सङ्गीत सुनाई दे रहा था—

बरसात था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त।
मिलन का सगीत होने लगा था श्रीमन्त।

अनुराग के पूर्ण विकास का परिणाम परिणय है। तदनुसार श्रद्धा और मनु का अनुराग भी परिणय में परिणत हो जाता है। इस मधु-मिलन के अवसर पर कवि ने अनुभावों की बड़ी सुन्दर योजना की है।

> मधुर व्रीडा मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास।
> हृदय का आनद कूजन लगा करने रास।
> गिर रही पलकें झुकी थी नासिका की नोक।
> भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बे रोक।

इसके पश्चात् ही सञ्चारी भावों – जैसे, लज्जा, पुलक आदि का प्रकृत विधान हुआ है।

विप्रलम्भ शृंगार की व्यञ्जना भी प्रसादजी ने बड़े मार्मिक ढङ्ग से की है। कामायनी मे तीन प्रकार के विप्रलम्भ—मान, करुण तथा प्रवास—मिलते है। कर्म सर्ग मे श्रद्धा के मान का अच्छा वर्णन है। मनु, श्रद्धा के पशु को मारकर यज्ञ करते है, जिससे श्रद्धा रूठ जाती है। मनु उसे मनाने के लिए वहाँ पहुँचते है, जहाँ वह स्नेह-जन्य अमर्ष से भरी हुई मृगचर्म पर पड़ी है।

> मधुर विरक्ति-भरी आकुलता फिरती हृदय-गगन मे।
> अन्तर्दाह स्नेह का तब भी होता था उस मन में।
> वे असहाय नयन थे खुलते-मुँदते भीषणता मे।
> आज स्नेह का पात्र भरा था स्पष्ट कुटिल कटुता में।

मनु के प्रथम पलायन में श्रद्धा का विरह करुण ही कहा जायगा। क्योंकि इस विरह मे श्रद्धा को मनु से फिर मिलने की सम्भावना बहुत कम थी, परन्तु मनु का द्वितीय निष्क्रमणकाल प्रवास के अन्तर्गत आयेगा। क्योंकि उसमे श्रद्धा को विश्वास है कि मनु पुनः मिल जायेंगे।

"मिल जायेगा हूँ प्रेम पली।"

इस विश्वास के कारण प्रवास-विप्रलम्भ में वेदना की उतनी तीव्रता नहीं जितनी करुण विप्रलम्भ मे है। दूसरे इस स्थल पर श्रद्धा, राष्ट्र-हित-चिन्तन मे विरहव्यथा को कुछ भूल-सी जाती है, इसी लिए प्रवास-विप्रलम्भ का वर्णन बहुत संक्षिप्त हुआ है।

करुण विप्रलम्भ का वर्णन स्वप्न-सर्ग के आरम्भ मे हुआ है। इसमे स्मृति, चिन्ता, उद्वेग, दैन्य, विषाद, उन्माद आदि विरह दशाओ का अत्यन्त मार्मिक वर्णन है। विरहताप के वर्णन मे कवि ने रीति-कालीन ऊहात्मक पद्धति, षट्ऋतु-वर्णन आदि की सहायता कहीं नहीं ली है। परम्परा के अनुसार विरह की दसो दशाओ को गिनाने की प्रवृत्ति भी कामायनी मे नही है। विरह-वर्णन सक्षिप्त होते हुए भी इतना व्यञ्जनापूर्ण है कि वह विरह-ताप का अनुमान कराने मे पूर्णतया समर्थ है—

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नही।
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही।
हरित कुञ्ज की छाया भर थी वसुधा आलिङ्गन करती।
यह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

(स्वप्न सर्ग)

विरहिणी श्रद्धा इतनी कृश हो गई है कि पहचानी भी नहीं जाती। उसकी वेदना इतनी अधिक है कि वह कसक की साकार मूर्ति बन गई। श्रद्धा का यह विरह-वर्णन भवभूति की सीता का स्मरण करा देता है जो राम के विरह मे क्षीण होते-होते स्थूल जगत् से उठकर भाव-जगत् की वस्तु रह गई है—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरम्
दधती विलोलकबरीकमाननम्।

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ।।
(उत्तर रामचरित तृतीय अङ्क)

जिस प्रकार सीता, विरह-वेदना मे करुणा की मूर्ति अथवा विरह-व्यथा की साकार प्रतिमा बन गई है तद्वत् कामायनी भी विरह-व्यथा के कारण विजय की 'मौन वेदना', 'जगती की अस्पष्ट उपेक्षा', 'साकार कसक' तथा 'अपार विरह-नदी' के रूप मे परिणत हो गई है। 'आँसू' जैसा विरहकाव्य लिखनेवाला कवि यहाँ बहुत ही सन्तुलित तथा संयमशील दिखाई पड़ता है। इसके दो प्रधान कारण है। प्रथम कामायनी का समरसतावाला सिद्धान्त दूसरा श्रद्धा का आत्मिक प्रेम। श्रद्धा अन्य साधारण नायिकाओ के समान इतनी आकुल नही है कि उसके विरह-गीत वर्णन करने मे कवि को पूरा एक सर्ग लगाना पडे। समरसता की प्रतीक श्रद्धा यदि विरह-काल मे अपने जीवन मे सामञ्जस्य न लाती तो जीवन की परीक्षा म खरी कैसे उतरती ? कवि के समरसतावाले सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्ण रूप से कैसे करती ? जिनका प्रेम कायिक होता है वे ही विरह-काल मे अधिक आकुल दिखाई पड़ते है परन्तु जिनका प्रेम आत्मिक हो गया है, उनमे आकुलता की अधिकता न हो तो आश्चर्य ही क्या ।

शान्त रस—शान्त रस स्वय एक लँगड़ा रस है। नाटक मे इसकी सत्ता आचार्यों ने नहीं मानी है क्योकि यह लोक-जीवन का सामान्य भाव नहीं है। इसमें वैराग्य भाव की प्रधानता रहती है जो वृद्धावस्था मे उत्पन्न होता है। अतः वह, वास्तविक जीवन के साथ चलनेवाले काव्य, नाटक आदि के [illegible] पड़ता। आदर्श जीवन को लेकर चलनेवा[illegible] श हुए बिना नहीं इसकी कुछ गुञ्जायश है तभी तो 'रामायण'[illegible] वसृष्टि) के विध्वस [illegible] मार्मिक ढङ्ग से

प्राचीन आदर्श प्रधान श्रव्य काव्यों में इसकी सत्ता दिखाई देती है। वाल्मीकि-रामायण मे, राम, अत मे, वैराग्य-प्रेरित होकर सरयू नदी मे धॅसने चले गये है। महाभारत में पाँचों पांडव युधिष्ठिर के साथ हिमालय में गलने चले गये है, तद्वत् कामायनी मे श्रद्धा मनु को लेकर विश्व के कोलाहल से दूर कैलास लोक को चली जाती है। कुछ पाठकों के मन मे यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि श्रद्धा तो वहाँ मनु के साथ घर बनाकर रहने लगती है; अन्त मे उसका सारा परिवार वहाँ चला जाता है। तब भला यहाँ शात रस कैसे हुआ? परन्तु यहाँ कैलास-गमन का कारण निर्वेद है जो तत्त्वज्ञान से उत्पन्न हुआ है। वह इष्ट-नाश या अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न नही होता, जिसे आचार्य मम्मटश्रृङ्गार का सञ्चारी मानते है क्योंकि जिस समय मनु को निर्वेद उत्पन्न हुआ था उस समय उनकी इष्ट श्रद्धा उनके पास ही थी। यह निर्वेद मनु के हृदय मे ससार की प्रवचना, असारता आदि के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

सोच रहे थे, जीवन सुख है? ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है?
यह प्रभात की स्वर्ण किरण सी झिलमिल चञ्चल सी छाया,
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे यह मुख या कलुषित काया।

यहाँ निर्वेद भाव रूप में ही है। रस दशा को नहीं प्राप्त हुआ है। आनन्द सर्ग मे यह भाव रस दशा को प्राप्त होता है। वहाँ कैलास, एकान्त-प्रदेश, विजय-वन आदि उद्दीपन है। 'द्वयता की विस्मृति', 'आनन्द-पुलक' आदि अनुभाव है। शात रस
हर्ष आदि की व्यजना भी उसी सर्ग मे हुई है।
परिपाकइदुप्रसग आशा सर्ग में मिलता है जहाँ मनु
शासन में, तप में निरत होकर विरतिपूर्ण

ससार का आरम्भ करते है। यहाँ पर उद्दीपन द्वारा कवि ने शान्त रस की एक हल्की व्यञ्जना कराई है।

> धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से
> अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ
> जिसमें शीतल पवन गा रहा
> पुलकित हो पावन उद्गीथ॥

यहाँ पर पवन के 'पावन उद्गीथ' द्वारा शान्त रस की व्यञ्जना कराई गई है।

करुण रस—करुण ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभूति सब रसों और सब दशाओं मे रसात्मक होती है। इसी से भवभूति ने करुण रस को 'एको रसः करुण एव' कहा। करुण रस मे आलम्बन को लोकगत पात्र होने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अन्य रसो मे है। लोकगत किसी साधारण पात्र के दुःख से भी करुण रस उत्पन्न हो सकता है। आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में तो एक क्रौञ्च पक्षी के मिथुन वध से करुणा का सागर उमड़ पडा था। रावण की पत्नी मन्दोदरी के पुत्र-शोक-जन्य-विलाप से भी करुण रस उत्पन्न हो सकता है। साराश यह कि करुण-रस की उत्पत्ति के लिए पर-प्रतीतिशील हृदय की जितनी आवश्यकता है उतनी लोकगत आलम्बनत्व की नहीं। आरम्भ में मनु एक साधारण पात्र के रूप में, देवसृष्टि के विध्वस पर, चिन्ताशील शोकाकुल हृदय लिये हुए पाठको के समक्ष आते हैं, परन्तु उनके विषाद, शोक, चिन्ता आदि से सहृदयों के हृदय में करुण रस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। चिन्ता सर्ग में मनु की इष्ट वस्तु (देवसृष्टि) के विध्वस का वर्णन तथा अनिष्टकारी प्रलय का चित्र मार्मिक ढङ्ग से

खींचा गया है। इस प्रकार करुण रस के स्थायी भाव शोक की व्यञ्जना प्रथम सर्ग मे हुई है।

प्रलय मे विनष्ट बन्धु-बान्धव, सुखोपकरण, विभूति आदि आलम्बन है। देवताओं का दम्भ, उच्छृङ्खल विलास, अतीत सुख, कीर्ति, दीप्ति आदि का स्मरण उद्दीपन है। मनु का प्रलाप, देवताओं की निन्दा, मर्मवेदना का निकलना, 'कातर क्रन्दन' उच्छ्वास आदि अनुभाव है। भविष्य की चिन्ता, विस्मृति, जड़ता आदि सञ्चारी भाव है।

भय या डर नामक भाव की स्थिति प्राय निम्न कोटि के पात्रो मे दिखाई जाती है, किन्तु जब भयानक रस की स्थिति अच्छे पात्रो म दिखानी होती है तब भय का कारण लोकगत बनाना पड़ता है। उच्च श्रेणी के पात्रों मे जब भय का भाव उत्पन्न होता है तब वे उससे डरकर भागते नहीं पर उसके निवारण का प्रयत्न करते है। जैसे किसी गाँव मे आग लग जाय तो उत्तम कोटि के पात्र डर कर भागेगे नही प्रत्युत उसके बुझाने का प्रयत्न करेगे। मनु प्रलयकालीन भयङ्कर जल-प्रवाह से डरकर धैर्य रहित नही होते। कुछ समय के लिए चिन्ता से कातर भले ही हो जायँ पर कायर या डरपोक रूप मे दिखाई नही पड़ते। इसी प्रकार वे युद्धस्थल मे रुद्र के भयङ्कर नाराच को देखकर तथा महाशक्ति की भीषण हु कार सुनकर कायरो के समान रणक्षेत्र से भागते नहीं। भयानक रस मे दूसरी बात स्मरण रखने की यह है कि यह उन रसों मे से है जिनमे अलग-अलग आश्रय या आलम्बन के वर्णन की आवश्यकता नही पड़ती। केवल आलम्बन के यथातथ्य वर्णन से काम चल जाता है। कामायनी मे भयानक रस का वर्णन इसी रूप में मिलता है। भय के तीन प्रसङ्ग काव्य में मिलते है। पहला प्रलय वर्णन मे, दूसरा युद्ध प्रकरण मे तथा

तीसरा रहस्य सर्ग मे। तीनो प्रसङ्गो म आलम्बन क वर्णन द्वारा ही कवि ने भयानक रस की व्यञ्जना कराने का प्रयत्न किया है। प्राय. भयानक रस के वर्णन मे कवि चमत्कार प्रदर्शन अधिक करते है कि प्रसादजी ने इस प्रकार की कृत्रिम पद्धति का आश्रय नही लिया है। भयानक रस के वर्णन मे तुलसी, भूषण आदि कवियो ने सम्बन्धातिशयोक्ति से अधिक काम लिया है जिससे काव्य मे अप्राकृतिक तत्त्व का समावेश हो जाता है। प्रसाद ने युद्ध के अवसर पर इसका प्रयोग केवल एक बार किया है।

"बहते विकट अधीर विषम उन्चास वात थे।
मरण पर्व था, नेता आकुलि औ' किलात थे"॥

अद्भुत रस—अद्भुत रस की सृष्टि मे केवल अद्भुत व्यक्ति या कार्य का वर्णन ही पर्याप्त नही होता। रूपकातिशयोक्ति के द्वारा शृङ्गार का आलम्बन कुछ अद्भुत-सा प्रतीत होने लगता है किन्तु वहाँ विस्मय नामक भाव केवल सञ्चारी के रूप मे आयेगा, रस रूप मे नही। स्मरण रखना चाहिए कि विस्मय[1] और उत्साह ऐसे भाव है जिनका सञ्चरण सभी रसो में हुआ करता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का अद्भुत कार्य तथा व्यक्तित्व विस्मय नामक भाव ही उत्पन्न कर सकता है, रस दशा को नही पहुँच सकता। जब किसी लोकरक्षक पात्र की असाधारण शक्ति, बल आदि द्वारा किसी अद्भुत कार्य की सृष्टि होगी तब वहाँ अद्भुत रस की वास्तविक स्थिति मानी जायगी। अद्भुत रस के दो प्रसग कामायनी में मिलते है। प्रथम नटेश के ताण्डव नृत्य मे, द्वितीय त्रिपुर-मिलन मे। त्रिपुर-मिलन वाला दृश्य दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो परन्तु रस दृष्टि से तो

१ 'उत्साहविस्मयो सर्वरसेषु' (रसतरंगिणी)

तमाशा-सा जान पड़ता है। शिव के ताण्डव नृत्य में भी अद्भुत रस की गम्भीरता वर्तमान नहीं है। अतः उसे भी हम रस-निष्पत्ति की उत्तम-कोटि में नहीं रख सकते; क्योंकि उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गों मे लौकिक या भौतिक व्यापार का आधार नही दिखाई पडता।

वीर रस—वीरत्व वस्तुत लौकिक गुण है। लोक के सम्पर्क मे आने पर ही उसका उदात्त स्वरूप व्यक्त होता है। आत्म-रक्षा करनेवाला वीर प्रशसनीय हो सकता है पर वीरत्व का आलम्बन नही हो सकता। लोक-रक्षण में प्रवृत्त वीर ही वीर रस का आलम्बन हो सकता है। वीरत्व का लक्ष्य सत्य का सङ्घटन और असत्य का विघटन प्राचीन काल से ही माना गया है। इसलिए वीर रस का शुद्ध प्रभाव तभी होता है जब उत्साह धर्म की ओर उन्मुख हो तथा उसका लक्ष्य अधर्म को मिटा देना हो। उत्साह की अभिव्यक्ति केवल युद्ध में ही नहीं दया धर्म, दान आदि मे भी देखी जाती है। इसलिए वीर-रस के युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर तथा दयावीर चार भेद किये गये है। कामायनी मे किसी एक की भी पूर्ण अभिव्यक्ति नही दिखाई पडती। दयावीर, दानवीर, धर्मवीर का तो कही पता ही नही केवल युद्धवीर का आभास एक स्थल पर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः वीररस का समारम्भ लोक-धर्म से होता है। लोक-धर्म का पूर्ण विकास, कार्य रूप मे प्राचीन महाकाव्यो रामचरित-मानस, रामायण, महाभारत आदि के समान कामायनी मे दृष्टिगोचर नही होता। अतः कामायनी मे वीर रस के पूर्ण विकास का अवसर ही नही उत्पन्न किया गया है तो वर्णन कैसे हो? उत्साह भाव की व्यञ्जनाएँ यत्र-तत्र केवल भाव रूप मे दिखाई पड़ती है। जैसे, जहाँ श्रद्धा मनु को कार्य मे व्याप्त करती है वहाँ उसकी उक्तियों द्वारा उत्साह की कुछ व्यञ्जना हो रही है—

यह क्या तुम सुनते नहीं।
'विधाता का मङ्गल वरदान'
'शक्तिशाली हो विजयी बनो'
विश्व मे गूँज रहा जय-गान।

सङ्घर्ष सर्ग मे युद्ध-वर्णन को देखकर पाठकों को यहाँ वीर-रस का भ्रम हो सकता है। अत रस-भ्रम का निवारण करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

उत्साह, लक्ष्य और साध्य दोनो की ओर देखनेवाला भाव है। इसलिए वह अन्य भावो से विलक्षण है। उत्साह जिस वस्तु या व्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है, वह तो इसका लक्ष्य या आलम्बन है, पर जिस विचार मे प्रवृत्त होता है वह उसका साध्य है। किसी दानी का लक्ष्य दान-पत्र होता है और उसका साध्य यश। लक्ष्य व्यक्त रहता है और साध्य अव्यक्त। इसी लिए कहा जा सकता है कि उत्साह के दोहरे आलम्बन होते हैं—एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। व्यक्त साधक होता है और अव्यक्त साध्य। परम साध्य अव्यक्त आलम्बन ही होता है इसी कारण कुछ लोग उसे ही उत्साह का वास्तविक आलम्बन मानते है, किन्तु काव्य की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष कार्य व्यक्त आलम्बन द्वारा ही होता है। अत. शास्त्रकारों ने उसी को प्रकृत आलम्बन कहा है। आश्रय और आलम्बन के साथ साध्य को जोड़ देने से उत्साह के स्वरूप का ठीक ठीक बोध हो जाता है। जहाँ उत्साह का साध्य कोई अन्य भाव होता है वहाँ यह उस भाव का अङ्ग बन जाता है। यदि कोई किसी के प्रेम में उत्साह प्रदर्शित कर रहा हो तो उसका यह उत्साह शृङ्गार रस का सञ्चारी माना जायगा। कामायनी के सघर्ष सर्ग मे युद्ध के उत्साह का साध्य धर्मरक्षा नहीं प्रत्युत प्रति-हिंसा है। इस प्रतिहिंसा या प्रतिशोध के मूल मे क्रोध की भावना

है। अतः यह उत्साह वीर रस का निष्पादक न होकर रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आया है। वीर रस के वर्णन मे कवि योद्धा की तेजस्विता, धीरता, प्रचण्डता, भीषणता आदि का उल्लेख करता है। परन्तु यहाँ मनु की दुर्बलता का वर्णन है।

"अपनी दुर्बलता मे मनु हाँफ रहे थे।
स्खलित विकम्पित पद वे अब भी काँप रहे थे।"

उत्साह में बुद्धि काम करती रहती है, पर क्रोध मे नष्ट हो जाती है। उस समय यदि मनु बुद्धि-रहित न होते तो प्रजा के प्रश्नो का उत्तर अवश्य देते। वे तो क्रोध-वश काँप रहे थे। उनका पैर भी स्खलित हो रहा था। यदि उक्त प्रसङ्ग का स्थायी भाव उत्साह होता तो वीर रस का उद्रेक होता, परन्तु यहाँ तो दोनों पक्षो का स्थायीभाव क्रोध है। प्रजा के विप्लव पर मनु क्रोधित हैं और मनु के अत्याचार पर प्रजा। इसलिए इस प्रसङ्ग के मूल मे रौद्र रस है, वीर रस नहीं। उत्साह, रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आया है। उत्साह का सञ्चरण सभी रसों मे सञ्चारी रूप मे हो सकता है; यहाँ तो रौद्र रस वीर रस का सहकारी ही ठहरा। अतः उत्साह का रौद्र रस के सञ्चारी रूप मे आना किसी प्रकार भी अस्वाभाविक नहीं है।

रौद्र रस के वर्णन मे जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का आलम्बन हो सके तब तक वह वर्णन भाव प्रदर्शक मात्र होगा। लोक-पीडक या क्रूरकर्मा अत्याचारी को सुनकर या देखकर जिस क्रोध का वर्णन होगा वह रस कोटि का कहा जायगा। मनु 'स्वप्न' तथा 'सङ्घर्ष' सर्ग मे लोक-पीडक रूप मे दिखाये गये है। अतः 'कामायनी' के उक्त प्रसग से रौद्र रस की सच्ची अभिव्यक्ति हुई

है। इडा के ऊपर मनु कृत अत्याचार से प्रजा रुष्ट हो जाती है। प्रकृति का विपर्यय देखकर प्रजा, मनु से उसका कारण पूछती है, क्योंकि उस युग मे प्रकृति मे विपर्यय होना शासक के किसी अपराध या अत्याचार का सूचक समझा जाता था। मनु के उत्तर न देने पर प्रजा विद्रोह करती है। प्रजा के विप्लव को मनु उसकी अकृतज्ञता समझकर रुष्ट हो जाते है। दोनो का क्रोध एक दूसरे के प्रति इतना बढता है कि युद्ध तक छिड जाता है। दोनो का अत्याचार एक दूसरे के लिए उद्दीपन का काम करता है। दोनो का एक दूसरे के कार्यों की निन्दा करना, उलाहना देना, कठोर भाषण आदि अनुभाव है। दोनो के हृदयो मे उत्पन्न अमर्ष, उत्साह, उग्रता आदि सचारी भाव है। देवशक्तियों का क्रुद्ध, रुद्र-नयन को उन्मीलित तथा प्रकृति को कम्पित दिखाकर कवि ने रौद्र रस की तीव्रता बढा दी है।

वात्सल्य रस की व्यञ्जना कामायनी मे श्रद्धा-कुमार [मानव] के प्रसङ्ग मे मिलती है। इसकी व्यञ्जना माता-पिता तथा बालक तीनों की उक्तियों द्वारा हुई है। अन्य रसो के समान इसका वर्णन भी सक्षिप्त ही है। श्रद्धा विरह मे अत्यन्त दुखी है, निराशा से व्याकुल है, वेदना से विह्वल है, किन्तु 'मानव' की किलकारी सुनते ही सभी उद्वेगजनक भावो को भूल जाती है। कितनी उत्कठा से धूल-धूसरित बालक को गोद मे उठाकर कहती है—

"कहाँ रहा नटखट तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे पिता के प्रतिनिधि तू ने भी सुख दुख तो दिया घना।
चचल तू वनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं।
मै डरती तू रूठ न जाए करती कैसे तुझे मना।"

उपर्युक्त पंक्तियों मे माँ का हृदय झाँक रहा है। माँ के हृदय में कवि ने वात्सल्य भाव की मूर्ति दिखाई है। वह बालक को इतना अधिक प्यार करती है कि उसे रूठने भी नहीं देना चाहती। इसी डर से उसे वन में जाने से नही रोकती। बच्चे किस प्रकार रूठते है, वे कितने नटखट होते हैं, उनमे कितनी जिज्ञासा भरी होती है, वे अपरिचित स्थानों मे कैसी चेष्टा करते हैं, पिता या घर के किसी आत्मीय व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर बच्चे किस प्रकार उन्हें खोजते हैं, माता के घर से दूर जाने पर बच्चा किस प्रकार कहता है माँ घर चलो, माता के मुख पर रञ्च मात्र उदासी आने पर बालक किस प्रकार उदास हो जाता है, माँ के चुप हो जाने पर शिशु किस प्रकार उसके मौन होने का कारण पूछता है आदि बाल-मनोवृत्तियो का स्वाभाविक चित्रण, स्वप्न, निर्वेद तथा दर्शन सर्ग में कुमार-मानव की उक्तियो एव चेष्टाओ द्वारा हुआ है। वात्सल्य रस की पूर्ण व्याप्ति दिखाने के लिए अन्त मे कवि ने श्रद्धा के पुत्र-प्रेम जनित ईर्ष्या से पलायित मनु को भी वात्सल्य भाव से विह्वल कर दिया है—

> "यह कुमार मेरे जीवन का उच्च अंश कल्याण कला।
> कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।"

महाकाव्य मे रसों पर विचार करते समय हमारे प्राचीन शास्त्रकारो ने बताया है कि अङ्गी रस के अतिरिक्त अन्य सभी रसों को गौण रूप मे आना चाहिए। इस नियम के भीतर उनका निहित सिद्धान्त था मानव जीवन की पूर्णता के लिए सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का समावेश करना। उनकी दृष्टि में महाकाव्य का साध्य था मानव जीवन का पूर्ण स्वरूप उस्थित करना। इसकी पूर्ति के लिए अन्य अनेक नियम—वस्तु नेता, रस आदि साधन थे;

अन्यथा नवो रसो का कविता-संग्रह भी महाकाव्य कहा जाता। यदि साधन की कमी रहते हुए भी साध्य की पूर्ति हो जाय तो कर्त्ता को उसके लिए दोषभागी नही प्रत्युत महाभागी मानना चाहिए। हास्य, वीभत्स रस जैसे दो एक रसो की अनुपस्थिति रहते हुए भी क्या कोई कह सकता है कि कामायनी मे मानव-जीवन का पूर्ण चित्र नही है। अब हमे यह देखना चाहिए कि कवि को वीभत्स रस की सृष्टि का अवसर ग्रन्थ मे मिल सकता था या नही।

वीभत्स रस की व्यञ्जना प्राय: खून, पीप, मवाद, मज्जा आदि के वर्णन द्वारा दिखाई जाती है, परन्तु कोई पात्र भी ऐसे घृणित आचरण का हो सकता है जिसके प्रति घृणा की व्यञ्जना कराई जा सकती है। स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्तिगत घृणा रस दशा को नही प्राप्त हो सकती। उससे भाव-प्रदर्शन मात्र होगा। लोकगत घृणा से रस दशा की प्राप्ति हो सकती है। यदि समाज मे कोई व्यक्ति कन्या बेचकर उस द्रव्य का उपयोग कर तो समाज मे वह घृणित समझा जायगा। यदि प्रसादजी चाहते तो कामायनी मे इस प्रकार के वर्णन का अवसर मनु की ईर्ष्यावाले अंश से निकाल सकते थे, दूसरे युद्ध वर्णन के अवसर पर वीभत्स रस की अभिव्यक्ति के लिए पूरा स्थान था। इन स्थलो पर वीभत्स रस के वर्णन से काव्य की साधना भूमि का विस्तार तो हो जाता किन्तु उसके साध्य मे कोई सौन्दर्य न बढता।

हास्य के स्पन्दन बिना महाकाव्य मे कुछ खोया सा जान पड़ता है। परन्तु इसका एकदम अभाव ही हो ऐसा हम नही कह सकते; जैसे, विनोद का एक छोटा चित्र मानव की निम्नाङ्कित उक्तियो में देखिए—

"मैं रूठूँ माँ और मना तू कितनी अच्छी बात कही।
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलनेवाली॥"

पर पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विनोद वात्सल्य के सञ्चारी रूप में आया है, स्वतन्त्र रूप में नहीं। प्राचीन शास्त्रकारों के कथनानुसार*—स्थायी भाव भी अन्य रसों में सञ्चारी रूप से आ सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हास्य सामान्य जीवन में भी शृङ्गार के सञ्चारी रूप में आता ही है। सारांश यह कि उपर्युक्त विनोद को पाठक-हास्य रस समझने का भ्रम न करें।

कामायनी में हास्यरस का स्वतन्त्र रूप में अभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसादजी में हास्यरस की योजना करने की क्षमता ही नहीं थी; क्योंकि उनके नाटकों में हास्यरस का सफल प्रयोग यह स्पष्ट बतला रहा है कि वे हास्य रस का उचित और उद्देश्यगर्भित प्रयोग जानते थे। कदाचित् महाकाव्य का प्रकृत गाम्भीर्य बनाए रखने के लिए उन्होंने हास्यरस का प्रयोग नहीं किया। किन्तु जो समर्थ कवि हैं वे हास्य में गाम्भीर्य ला सकते हैं। तुलसी और सूर इसके पर्याप्त उदाहरण हैं। मानस में नारद तथा भ्रमरगीत में उद्धव के प्रसङ्ग में सोद्देश्य हास्य का प्रयोग हुआ है और काव्य का प्रकृत गाम्भीर्य भी नष्ट नहीं होने पाया है। यदि प्रसादजी चाहते तो कामायनी में शृङ्गार रस के सहकारी रूप में हास्यरस का प्रयोग कर सकते थे, जैसा

---

*स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति हासः शृंगारे रतिः शान्तकरुणहास्येषु भयशोकौ करुणशृङ्गारयोः क्रोधो वीरे जुगुप्सा भयानके उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु (रसतरङ्गिणी)

कि नाटकों मे उन्होने किया है। पता नही, नाटकों मे हास्यरस का रास्ता निकालकर वे कामायनी मे क्यों भूल गये।

रस के किसी अवयव द्वारा रसोद्रेक—रस व्यञ्जना मे यह आवश्यक नही होता कि रस के सभी अवयवों का कथन किया ही जाय। जिन अङ्गों का कथन नही होता उनका स्वभावत अनुमान कर लिया जाता है। कुछ रस ऐसे होते है जिनमे रस व्यञ्जना के लिए केवल आलम्बन का ही यथावत वर्णन पर्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार कही सञ्चारी भावो द्वारा और कही अनुभावो द्वारा भी रस की व्यञ्जना हो जाती है। शान्त रस के प्रसङ्ग मे यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार अकेले उद्दीपन भी रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। लज्जा सर्ग में लज्जा नामक सञ्चारी भाव का वर्णन इतना विशद तथा तीव्र है कि उससे शृङ्गार का उद्रेक हो जाता है। भयानक रस के प्रसङ्ग मे भी यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार अकेले आलम्बन का यथातथ्य वर्णन रस निष्पत्ति मे समर्थ हो सकता है।

कामायनी मे कहीं कहीं भावोदय तथा भाव शान्ति के उदाहरण भी मिलते हैं। भावोदय तथा भावशान्ति की स्थिति वस्तुत: एक ही प्रकार की होती है। क्योंकि बिना किसी भाव के शान्त हुए किसी अन्य भाव का उदय नही हो सकता। उसी प्रकार भावशान्ति के अनन्तर भी किसी न किसी भाव का उदय ही होता है। वस्तुत इन दोनों को रीतिशास्त्र के अनुसार अलग-अलग दिखाना मात्र उद्देश्य था। इसलिए दोनों मे यह भेद किया गया है कि जहाँ भाव के उदय मे अधिक चमत्कार हो वहाँ भावोदय और जहाँ भाव की शान्ति में अधिक चमत्कार हो वहाँ भावशान्ति होती है। भावोदय का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी॥
लुटरी खुली अलक रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं।
निशा तामसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

यहाँ बालक 'मानव' का माँ शब्द सुनकर श्रद्धा की विरह-वेदना शान्त हो जाती है। उसके विरह-वेदना-भरे हृदय में पुत्र-प्रेम की उत्कण्ठा अपना स्थान बना लेती है। कहना चाहे तो कह सकते है कि दुःख के स्थान पर सुख उत्पन्न हो जाता है। पुत्र-प्रेम की उत्कण्ठा के उदय में अधिक चमत्कार होने के कारण यहाँ भावोदय मानना ही समीचीन है। स्मरण रखना चाहिए कि किसी भाव या भावसंधि की अनुभूति रसरूप ही मानी जायगी, हाँ किसी भाव का रस दशा तक पहुँचना भले ही न माने, उसे भावदशा तक ही रखे। पर अनुभूति सबकी रस रूप में ही होगी यह बात दूसरी है कि उसका आस्वाद उद्वेग जनक हो।

रस की वास्तविक भूमि सामाजिक है। इसी कारण रस दशा का पूर्णता समाजगत-मङ्गलमूलक नीति, आचार आदि औचित्यों की संरक्षण-स्थिति में ही मानी जाती है। अतः काव्य में जहाँ रसाभिव्यक्ति में नीति, सदाचार या औचित्य का उल्लङ्घन हुआ वहाँ रसाभास उत्पन्न हो जाता है। अविचार दशा में क्षण भर के लिए उनके द्वारा रस का आभास भले ही हो जाय पर वह रस की भाँति आस्वाद्यमान नहीं हो सकता। शृङ्गार रस में निज पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष में या अनेक पुरुषों में नायिका की रति अथवा दुःशीला या व्यभिचारिणी स्त्री पर किसी पुरुष की रति, रौद्ररस में गुरु, माता, पिता आदि पूज्यों पर क्रोध, हास्य रस में सम्माननीय व्यक्तियों का आलम्बन, करुण रस में विरक्त पुरुष का आलम्बन, भयानक में उत्तम पात्र में भय, अद्भुत रस

मे ऐन्द्रजालिक विस्मय आदि रसाभास है। इडा और मनु का प्रेम-प्रसङ्ग, मनु की ईर्ष्या का प्रसङ्ग ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सारगर्भित हो, पर रस दृष्टि से तो वे रसाभास कोटि मे ही रखे जायँगे। इडा और मनु के प्रेम प्रसग मे रतिभाव स्थायी भाव की कोटि को पहुँच जाता है किन्तु शृगार रस की कोटि को नहीं पहुँ-चता। इसी प्रकार मनु की ईर्ष्या सहृदय जनो को अनुचित प्रतीत होने के कारण रसाभास ही के अन्दर आयेगी।

भावव्यञ्जना मे द्रष्टव्य बाते—किसी कवि या कृति पर विचार करते समय उसकी भावव्यञ्जना का विवेचन अत्यत महत्त्व पूर्ण होता है। भावव्यजना मे तीन बाते द्रष्टव्य होती है—१—भाव का विस्तार, तीव्रता तथा सूक्ष्मता। इस दृष्टि से विचार करते समय ज्ञात होता है कि कामायनी का भावक्षेत्र उतना विस्तृत नही है जितना मानस का, हाँ यह दूसरी बात है कि कामायनी मे जितने भावो का वर्णन हुआ है उनसे मानव जीवन का पूर्ण चित्र उतर सकता है। कामायनी के भावो की तीव्रता असन्दिग्ध है। भावों को तीव्र करने के लिए कवि ने बडी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी है, अत्यन्त सुन्दर वातावरण राजाये है, व्यञ्जना द्वारा भाव वर्णन मे मार्मिकता का समावेश कर तथा लक्षणा द्वारा गोचरता उत्पन्न कर उसमे असीम प्रभविष्णुता भरी है। भावो की सूक्ष्म-ग्राहकता भी अपरिमेय है। लज्जा नामक भाव का इतना सूक्ष्मवर्णन किसी भी दूसरे काव्य मे नहीं दिखाई पड़ता।

कामायनी म शास्त्रीय दृष्टि से सबसे खटकनेवाली बात है स्वशब्द-वाच्यत्व दोष जो कई स्थलो पर मिलता है—

"वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से।
देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से।

× × × ×

प्रकृति आज उत्पात कर रही, मुझको बस सोने देना।
कहकर यों मनु प्रकट क्रोध में, किन्तु डरे से थे मन में।"

उपर्युक्त पंक्तियों में क्रोध, डर शब्द से स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ गया है। स्वशब्दवाच्यत्व दोष यह व्यक्त करता है कि कवि अपनी भावव्यञ्जना के प्रति अपडर रखता है। उसे यह शङ्का बनी है कि शायद पाठक मेरे भावों को न समझते हों। इसी लिए वह रसवाची शब्दों द्वारा उस रस या भाव का नाम बताकर अपनी निर्बलता या कमी को पूरा करना चाहता है। जैसे किसी व्यञ्जन का नाम मात्र लेने से उसके आस्वाद की अनुभूति या प्रतीति नहीं हो सकती तद्वत् किसी भाव या रस का नाम लेने से उसकी अनुभूति या प्रतीति नहीं हो सकती।

युग की अभिव्यक्ति

साहित्य की शुद्ध तथा सात्त्विक भूमि में उसके अन्य तत्त्वों की अपेक्षा युग की प्रतिध्वनि अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है। कवि चाहे अतीत मे विचरण करे, चाहे भविष्य में, वह अपनी प्रकृत अवस्था मे मूल प्रेरणा उस युग के समाज से ही पाता है जिसमें वह अपना जीवन-यापन करता है। प्रकृति कवि जीवन को समझने के लिए अतीत की ओर तथा उसे सफल बनाने के लिए भविष्य की ओर देखता है किन्तु उसका साध्य सदा वर्तमान ही रहता है। वर्तमान से असन्तुष्ट रहनेवाला कवि उस युग के समाज से अपने को कितना ही तटस्थ क्यो न रखे पर उसके कानों में समाज की पुकार न सुनते हुए भी पडेगी ही। जब कभी वह समाज के धरातल पर कदम रखेगा तब उसे युग के प्रस्तुत दृश्यों से प्रभावित होना ही पड़ेगा। यदि उसने हृदय खो नहीं दिया है; यदि वह अपने को घर के किसी कोने में सदा बन्द नही रखता तो उसे युग-जीवन की समस्याओं से कभी न कभी ज्ञात या अज्ञात रूपेण प्रभाव ग्रहण करना ही पड़ेगा तथा युग की प्रवृत्तियों का खण्डनात्मक या मण्डनात्मक रूप धारण करना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह कि किसी भी कवि का व्यक्तित्व चाहे वह युग का खण्डन करनेवाला हो चाहे मण्डन, उस युग के समाज द्वारा ही निर्मित होता है। संस्कृत साहित्य के वाल्मीकि तथा कालिदास, हिन्दी के तुलसी, कबीर, भूषण एवं प्रेमचन्द, तथा अँगरेजी के शेक्सपियर, शेली, ब्राउनिङ्ग आदि महाकवि अपने-अपने युग की देन है। इन कवियो के निर्माण के लिए इनका युग सबसे अधिक उत्तरदायी है। जब हम कवि का

निर्माण कहते है तब उसका अर्थ है उसकी कृतियों का निर्माण, क्योंकि समीक्षक के सामने कवि अपनी कृतियां द्वारा ही आता है। प्रस्तुत विषय के अनुसार हमे केवल प्रसादजी की कृति कामायनी पर ही विचार करना है कि इसके निर्माण मे वर्तमान युग कहाँ तक उत्तरदायी है। यदि साम्प्रत युग ने श्रद्धा के अभाव तथा बुद्धिवाद के अतिवाद स्वरूप ससार मे सहार, हिसा, प्रलय, अशान्ति, उद्वेग आदि से मानव मे हाहाकार न मचाया होता तो श्रद्धा का महत्त्व तथा प्राधान्य प्रतिपादित करनेवाली तथा बुद्धिवाद का विरोध करनेवाली कामायनी की रचना न हुई होती, बुद्धि के आविष्कृत यन्त्रो तथा मशीनों द्वारा भौतिक दृष्टि से मानव एक दूसरे के निकटतम होने पर भी हृदय से इतना दूर पड़ रहा है मानो मानव का मानव से कोई सम्बन्ध ही नहीं, वैज्ञानिक यन्त्रो से समय तथा प्रयत्न एव शक्ति की बचत होने पर भी मनुष्य इतना स्वार्थी तथा व्यावसायिक हो गया है कि उसके पास दूसर का दु:ख सुनने या देखने के लिए हृदय ही नही है, वह भौतिक दृष्टि से अधिक से अधिक शक्तिमान होने पर भी हृदय, श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव मे अपने साध्य परम वस्तु (आनन्द) से प्रवञ्चित हो रहा है। यदि युग की इन प्रवञ्चना से कवि की आत्मा तडपी न होती तो आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करनेवाली कामायनी की सृष्टि न हुई होती। धोखे की टट्टी, आडम्बर के जाल से भरी अर्थ-प्रेम तथा भौतिक बल की शिक्षा देनेवाली, मानवता को विकृत करनेवाली पश्चिमी या बुद्धिवादी सभ्यता की व्याधि से विश्व को विकल होते इस युग मे प्रसादजी ने न देखा होता तो उस व्याधि से मानवता को बचाने के लिए उनकी कल्पना कामायनी सदृश महाकाव्य की रचना मे प्रयत्नशील न हुई होती। यदि इस युग से अव्यावहारिक ह्रासोन्मुखी रूढि मे

जकड़ी हिन्दू जाति की दुर्दशा कवि को न दिखाई होती तो वह भारतीय संस्कृति की व्यावहारिक वैज्ञानिक तथा विकासोन्मुखी व्याख्या करनेवाली कामायनी जैसे ग्रन्थ की रचना में समर्थ न हुआ होता। कुटुम्ब की स्रष्टा, समाज की विधातृ, सेवा, त्याग सौन्दर्य एवं शक्ति की प्रतीक नारी का अधिकार-शून्य, आलोकहीन तथा नारीत्व रहित रूप साम्प्रत समाज ने न दिखाया होता तो नारीत्व की मूर्ति श्रद्धा जैसी नारी का चित्रण करनेवाली कामायनी का दर्शन न हुआ होता। शासित की रक्षा एवं पालन का ध्यान छोड़कर अपनी स्थिति, अपनी सत्ता, अपने विलास तथा अपने सम्मान की रक्षा में प्रयत्नशील निरंकुश शासकों से पीड़ित प्रजा का हाहाकार यदि इस युग ने कवि को न सुनाया होता तो निरंकुश शासक मनु के विरुद्ध प्रजा की क्रान्ति तथा विप्लव का चित्रण करनेवाली कामायनी का रूप कुछ दूसरा ही होता। सामाजिक जीवन से, व्यक्तिगत जीवन को अलग करनेवालों की दुर्दशा वर्तमान समाज में यदि कवि न देखी होती तो वह व्यक्ति तथा समाज में समन्वय स्थापित करनेवाली कामायनी का आकार कुछ दूसरा ही रखता। तात्पर्य यह कि यदि इस युग के अतिरिक्त किसी दूसरे युग में कामायनी की रचना हुई होती तो इसका काव्यात्मक रूप, इसका दर्शन, इसकी ऐतिहासिक व्याख्या इसका समाज तत्त्व एवं इसकी सांस्कृतिक चेतना कुछ दूसरे ही प्रकार की होती। कदाचित् नाम भी कुछ दूसरा ही होता। 'कामायनी युग की देन है' कहने का अर्थ यह नहीं कि इसमें युग की सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख है। युग की सभी प्रवृत्तियों का चित्रण किसी भी काव्य में सम्भव नहीं और न वह आवश्यक ही है। काव्य की प्रकृति एवं कवि की प्रवृत्ति के अनुसार युग का न्यूनाधिक चित्रण किसी काव्य में होता है। वर्तमान युग तथा समाज

ही की है। प्रसादजी का कहना है कि प्राचीन काल में सामाजिक सङ्घटन एवं व्यक्ति तथा समाज में सन्तुलन स्थापित करने के लिए तथा शोषण रोकने के लिए चारों वर्णों की रचना गुण-श्रम के अनुसार हुई थी किन्तु अब गुण-श्रम का आधार लोप हो गया। परम्परागत आभिजात्य की मान्यता समाज में स्थापित हो गई। परिणाम यह हुआ कि समाज सङ्घटन के स्थान पर समाज का विघटन होने लगा। एकता के स्थान पर वर्णों में ऊँच-नीच का भाव आने पर द्वयता स्थापित हो गई। कालान्तर में चार ही नहीं प्रत्युत अनेक वर्णों, जातियों तथा उपजातियों की रचना समाज में हुई। वर्णभेद के साथ समाज में ऊँच-नीच छूत-अछूत, खान-पान, अधिकार, कर्तव्य, समानता-असमानता, जाति पक्ष-पात, विजाति-द्रोह आदि अनेक समस्यायें अनजान रूप में आकर हिन्दू जाति का नाश करने लगीं। जाति-जाति के भीतर छूत, फूट, कलह, द्रोह, आदि फैलकर शक्ति नष्ट करने लगे। जिस अभिलषित वस्तु (समाज की अधिकाधिक सेवा, त्याग, शोषण-अवरोध, समाज-सङ्गठन आदि) के लिए वर्णविभाग हुआ था वह लुप्त हो गई। अनिच्छित दुख (ऊँच-नीच भाव, छूत-अछूत विचार, फूट-कलह, द्रोह आदि) का आगमन हो गया।

हम एक पिता मनु की सन्तान होकर एक दूसरे को पहचानते नहीं। मृत ढाँचे को हम लोग कुत्ते की तरह चाट रहे हैं। थोथी धार्मिकता तथा मिथ्या आभिजात्य की आड़ में हम प्रकृत मानवता से वञ्चित हो रहे हैं। पारस्परिक फूट तथा द्रोह के कारण हमारी शक्ति तथा बल का प्रयोग लक्ष्य प्राप्ति में नहीं किन्तु अपने भाई के प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा में हो रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे पास सर्वस्व क्यों न हो हम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। लक्ष्य प्राप्त करना तो दूर रहा ऐसी सङ्कुचित दृष्टि से हम अपने लक्ष्य

को देख भी नही सकते। जब तक हम ठोस सत्य को ठुकराते रहेंगे तब तक हमे निश्चय दुःख होगा ही। प्रसादजी "चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट" के अनुयायी नहीं। वे वर्णो की रचना सामाजिक आवश्यकतानुसार सामाजकृत मानते है, ईश्वरकृत नही, इसे उन्होने कंकाल में एक स्थान पर स्पष्ट कर दिया है "हिन्दू-मुसलिम ईसाई तो तुझे समाज ने बनाया है। मूलत तू मानव है। किन्तु सच पूछ तो तेरी नस्ल का ठिकाना नही है। धार्मिकता और खान्दानीपन की आड मे तू प्रतिदिन पतित हो रहा है। जिसका परिणाम है कि तू अपनी प्रकृत मानवता से वंचित होकर वासनाओं का गुलाम बन गया है" प्रसाद की उपर्युक्त उक्ति तथा तत्सम्बन्धी विवेचना का तात्पर्य यह है कि आज कल की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक स्थिति वर्ण योजना को सँभालने मे असमर्थ है। अस्तु साम्प्रत युग मे प्रचलित अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुखी वर्ण-रूढि के कठघरे से समाज को निकालना आवश्यक है। इससे पता चलता है कि प्रसादजी बँधी परिपाटी पर नहीं चलते थे। वे अतीत के सांस्कृतिक नियमों का रूढिगत अर्थ नही लेते थे। उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करते थे। समय की बदली हुई प्रवृत्तियों तथा नैतिक आदर्शों के अनुसार उनमे परिवर्तन आवश्यक समझते थे।

"पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द
किए है परिवर्तन मे टेक।"

जिस प्रकार साँप नही बदलता किन्तु उसकी केंचुली समय के अनुसार बदलती रहती है तद्वत् सक्रान्ति-काल मे संस्कृति की

ऊपरी त्वचा बदलती है। सर्प, निर्मोक क्यों बदलता है? क्योंकि उसको त्यागे बिना वह एक क़दम भी आगे नहीं चल सकता किम्बहुना वह जीवित नही रह सकता। उसी प्रकार वे सामाजिक विचार, वे प्रथाएँ तथा वे रीति-रिवाज एवं मान्यताएँ जिनका समय बीत चुका है; जो समाज की प्रगति में बाधा डालती है, उन्हें प्रसादजी स्वीकार नही करते। तथा वे अग्रगामी विचार, वे रीतियाँ वे प्रथाएँ तथा वे मान्यताएँ जो जीवन के लिए प्रयोग-सिद्ध हो चुकी है, उन्हे ग्रहण करने मे वे सकोच नही करते।'

"उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन"

प्रसादजी नियम, धर्म तथा सस्कृति जीवन के लिए मानते है, जीवन उनके लिए नही। उनके अतीत की ओर जाने तथा भारतीय संस्कृति को अपनाने का कारण है प्रयोग-सिद्धि की प्राप्ति। वे अतीत को साधन रूप मे अपनाते है, साध्य रूप मे नहीं। उनका अतीत जीवन के लिए है, जीवन अतीत के लिए नही। इसी लिए वे अतीत के उपयोगी स्वरूप को ग्रहण करते हे तथा अनुपयोगी को छोड़ देते हें। वे जीवन को अधिक से अधिक उपयोगी रूप मे रखना चाहते है।

'यह जीवन उपयोग यही हे बुद्धि आराधना।'

× × × ×

× × × ×

"लोक सुखी हो यदि आश्रय ले उस छाया में।" सघर्ष

प्रसादजी के इस उपयोगितावाद मे कुछ लोग जान स्टुअर्ट मिल का प्रभाव देखते हे पर उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि मिल का उपयोगितावाद भौतिक आधार पर स्थित है किन्तु प्रसाद का उपयोगितावाद आध्यात्मिक भूमि पर खड़ा हे'।' मिल के

उपयोगितावाद का आधार है केवल शरीर। किन्तु प्रसादजी के उपयोगितावाद का आधार हे शरीर तथा आत्मा दोनों। इसलिए इसे हम मिल का प्रभाव नही मान सकते। हाँ, कहना चाहे तो यह कह सकते है कि प्रसादजी युग के उपयोगितावाद से प्रभावित थे।

आधुनिक युग अपनी प्रत्येक प्रगति से तथा विश्व अपने प्रत्येक कोने से शक्ति का रादश प्रतिध्वनित कर रहा है, किन्तु हम सुनते हुए भी नही सुन रहे है, क्योंकि यदि हम सुनते होते तो शुद्ध शक्ति को नष्ट करनेवाली रूढियों को दाँत से न पकडते।

"और यह क्या सुनते नही,
विधाता का मगल वरदान।
शक्तिशाली हो विजयी बनो
विश्व मे गूँज रहा जयगान॥"

आज विश्व मे जिसके पास जितनी अधिक शक्ति है वह उतनी अधिक देर तक अपना अस्तित्व ससार मे स्थिर रख सकता है। आधुनिक ससार मे मानो निर्बल को जीने का अधिकार ही नहीं है, क्योंकि आज का नर तो शक्ति का खेल खेलने मे आतुर है। जिसके पास शक्ति नही होगी वह इस विश्व रूपी क्रीडाभूमि से निकाल दिया जायगा।

"है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमे जितना बल है।"

इससे प्रतीत होता है कि प्रसादजी साम्प्रत शक्ति-युग के सच्चे सन्देश वाहक है।

बुद्धिवादी सभ्यता से उत्पन्न सकटों से पश्चिम वाले घबरा उठे है। बौद्धिक या भौतिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचने पर भी उन्हे श्रद्धा या हृदय के अभाव मे शान्ति, सन्तोष या

आनन्द नहीं मिल रहा है। उनकी तृष्णा, अतृप्ति तथा निष्फलता प्रतिदिन बढ़ रही है। पश्चिम के विचारक भी उसका भयानक परिणाम संहार, प्रलय तथा विश्व-युद्ध के रूप में देखकर उसकी निन्दा कर रहे हैं और भारत की हृदयवादी (नम्र या ग्राम्य) सभ्यता की ओर आँख लगाये बैठे हैं इसका संकेत, सारस्वत प्रदेश में इड़ा के आकर्षण से विरक्त मनु की निम्नाङ्कित उक्ति द्वारा प्रकट हो रहा है।

"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।
मुक्त नील नभ के नीचे।
कहीं गुहा में रह लेंगे।"

बुद्धिवादी भौतिक युग का खाका सारस्वत प्रदेश के दृश्य-वर्णन तथा परिस्थिति-चित्रण द्वारा खींचा गया है। इस यान्त्रिक युग में मानव ने ऐसी-ऐसी मशीनों का आविष्कार कर लिया है कि वह जल, हवा, अग्नि, प्रकाश आदि के लिए प्रकृति पर निर्भर नहीं है। वह अब मशीनों से पानी बरसा सकता है, हवा चला सकता है; अग्नि बना लेता है तथा प्रकाश उत्पन्न कर लेता है। इस प्रकार अब उसे दैविक तापों से शङ्का नहीं है। वह आज दैविक तापों से रक्षा पाने के लिए अग्नि, उषा, वरुण, इन्द्र, पवन आदि देवताओं की अनुकम्पा पर निर्भर नहीं है। अतः वह अब ईश्वर या देवता आदि से डरता नहीं। जिन वस्तुओं के लिए वह ईश्वर या देवताओं की कृपा पर निर्भर रहता था, उनको मशीनों से उत्पन्न कर वह अब स्वावलम्बन[1] की धरती पर खड़ा हो गया

---

१ आज स्वचेतन प्राणी कुशल कल्पनाएँ करके।
स्वावलम्बकी दृढ़ धरणी पर खड़ा नहीं अब रहा डरा। (स्वप्न सर्ग)

है। यन्त्रों द्वारा, वर्षा धूप[१], जाडे के कष्टों से रक्षा करने के साधन बन गए है। इन मशीनों से पूँजीपति देशकाल[२] का लाघव कर रहे है। अमरीका या इंग्लैण्ड का गाना बैठे बैठे रेडियो द्वारा उसी समय सुन रहे है। ज्ञान, व्यवसाय तथा परिश्रम[३] का बल इन मशीनों से कई गुना बढ गया है। परन्तु प्रकृति पर विजय प्राप्त करनेवाली इन मशीनों से पूँजीपति वर्ग ही अधिक सुखी या लाभान्वित हो रहा है। कृषक या मजदूर वर्ग को ये यन्त्र सुलभ नही जिससे वह आज भी पहले ही की तरह प्रकृति[४] त्रस्त है। पर इन यन्त्रो क उपयोग से पूँजीपतियो का प्रकृत-सौन्दर्य तथा शक्ति[५] जाती रही। उनका शरीर जर्जर तथा क्षीना हो गया। प्रकृत-सौन्दर्य से हीन ये मानव विकृत-सौन्दर्य वर्द्धक नये-नये[६] आभूषणों का आविष्कार कर रहे है। पूँजीपतियो के उद्यानयुतस्वर्णकलश[७] शोभित भवन खड़े है। उन भवनो में विलासिता का नद उमड़ रहा है। विलासी-प्रेमियों की प्रेमोक्तियाँ[८] भी सुनाई पड रही है।

---

१ वर्षा धूप शिशिर मे छाया के साधन सम्पन्न हुए। (स्वप्न सर्ग)

२ देशकाल का लाघव करते ये प्राणी चचल से हैं। ,,

३ बढ़े ज्ञान व्यवसाय परिश्रम बल की विस्तृत छाया मे। ,,

४ प्रजा क्षुब्ध हो शरण माँगती उधर खड़ी (सङ्घर्ष सर्ग)
प्रकृति सतत आतङ्क-विकम्पित घड़ी घड़ी है।

५ प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रो से सबकी छीनी। (सङ्घर्ष सर्ग)
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

६ उधर धातु गलते बनते आभूषण और अस्त्र नये.. (सङ्घर्ष सर्ग)

७ स्वर्ण-कलश शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने।

८ क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ।
उस रोदन में अट्टहास हो फिर तुमको पा लूँ। (सङ्घर्ष सर्ग)

वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा हम देशकाल की सीमा पार कर एक दूसरे के अति निकट हो गये हैं किन्तु व्यावसायिक बुद्धिवादी भौतिक सभ्यता के कारण केवल शरीर ही पास है हृदय नहीं क्योंकि व्यावसायिक बुद्धि स्नेह का कोमल[1] तन्तु छिन्न कर रही है जिससे सबको अपनी अपनी पडी है। भिन्न-भिन्न वर्गों के कारण ऐसा भेद बढ़ गया है, जिसके जुड़ने[2] की कोई आशा ही नहीं।

प्रसादजी ने अपनी ही उक्ति द्वारा बताया है कि वर्तमान युग में बुद्धि या तर्क के बल पर जितनी ही सत्य की खोज हो रही है। उतना ही वह गहन होता जा रहा है। बुद्धि या तर्क के स्पर्श से वह छुई मुई की तरह लज्जित होकर सिकुड रहा है।

"और सत्य! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता छुई मुई है।"

यह उक्ति मिथ्याभूत से ग्रहीत इस बुद्धिवादी युग की मिथ्या-प्रवृत्ति की ओर संकेत कर रही है कि इसमें (श्रद्धा) हृदय को ठुकराकर केवल बुद्धि या तर्क द्वारा असत्य को सत्य तथा सत्य

१ अपनी अपनी पड़ी सभी को छिन्न स्नेह का कोमल तन्तु।
२ वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की। (स्वप्न सर्ग)

का असत्य सिद्ध करने का प्रयास पग पग पर हो रहा है जिससे सत्य का स्वरूप प्रति दिन सिकुड़ता जा रहा है और मिथ्या का राज्य प्रति दिन बढ़ रहा है।

इस बुद्धिवादी युग में शासकवर्ग चिर स्वतन्त्र[1] होकर निर्बाधित अधिकार भोगना चाहता है। वह अपने ही बनाये हुए नियमों[2] का पालन स्वयं नहीं करता। वह अपने को चिरबन्धन[3] हीन मानकर अपने अधिकारों का स्वात्म के लिए उपयोग ही नहीं प्रत्युत उपभोग भी करना चाहता है। वह अधिकारों की मोहमयी[4] माया के कारण अपने व्यक्तिगत चरित्र को सामाजिक जीवन से अलग रखना चाहता है। वह अपनी स्थिति[5] तथा रक्षा के लिए नियम बनाता है, प्रजा-पालन या रक्षा के लिए नहीं। यदि प्रजा उसके[6] हाँ में हाँ न मिलाये तो बड़ी अपराधी मानी जाती है और उसे नाना प्रकार के दण्ड दिये जाते हैं।

इस यान्त्रिक युग में ऐसे यन्त्रों तथा शस्त्रों का[7] आविष्कार हो गया है जिनका स्वप्न में नाम नहीं सुना गया था। इससे मानव की शक्ति बहुत बढ़ गई है। परन्तु इस शक्ति से

---

१ मैं शासक मैं चिर स्वतन्त्र × × २०६ संघर्ष
तनिक न मैं स्वच्छन्द, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं ? १९८ ,,
२ वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना। १९९ ,,
३ मैं चिर बन्धन हीन × × १९९ ,,
४ अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया १९४ स्वप्न०
५ आज कहाँ वह शासन था जो रक्षा का था भार लिये १९३ ,,
६ हाँ में हाँ न मिलाऊँ तो अपराध बड़ा है २०५ संघर्ष
७ शस्त्र यन्त्र बन चले न देखा जिनका सपना २०४ ,,

मानव आज ऐसा खेल[1] खेलने में आतुर है, जिसमें प्रतिदिन भीषण जन[2]-सहार हो रहा है, जिससे सामूहिक[3] बलि का निराला पन्थ निकल गया है, रुधिर-भरी[4] वेदियों में भयकर ज्वाला जल रही है। इससे शासकवर्ग न तो स्वय सुख[5] से जी रहा है और न प्रजा को सुख से जीने दे रहा है। इस[6] प्रकार बुद्धिवाद मानव को अग्नि-सदृश भस्म कर रहा है।

पात्रों के कार्यों से युग और काल की व्यञ्जना मार्मिक, पर बहुत ही प्रच्छन्न हुआ करती है। अतीत काल के पात्रों के कार्यों मे जहाँ-जहाँ वर्तमान जीवन की अनुरूपता मिलेगी वहाँ-वहाँ साम्प्रत जीवन की व्यञ्जना हो सकती है। इसे ऐतिहासिक पुनरावर्तन कहे चाहे ऐतिहासिक अनिवार्यता, पर यदि कवि की वृत्ति उसके वर्णन या चित्रण मे तनिक भी रमी है तो उससे युग और काल की ओर सन्देश ग्रहण किया जा सकता है। देव सृष्टि के विगत वैभव पर मनु का प्रलाप किसी भी देशभक्त हिंदू नवयुवक के स्मृति-चिह्नावशिष्ट गौरवपूर्ण अतीत पर किये हुए क्रन्दन की ओर सकेत कर सकता है—

---

१ आज शक्ति का खेल खेलने म आतुर नर।	सघर्ष
२ भीषण जन-सहार आप ही तो होता है	२०६ ,,
३ सामूहिक बलि का निकला था पथ निराला	,, ,,
४ रुधिर भरी वेदियाँ भयङ्करी उनमें ज्वाला	२०४ ,,
५ जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी लो	२०६ ,,
६ यह सारस्वत देश था कि फिर ध्वस हुआ सा	२०४ ,,
समझो तुम हो अग्नि और वह सभी धुआँ सा	२०४ ,,

"सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल वैभव आनन्द अपार।
\+ + + +
कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती
अरुण किरण सी चारो ओर
\+ + + +
शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पद-तल मे विनम्र विश्रान्त
\+ + + +
सुख केवल सुख का वह संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छाया-पथ मे नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।
\+ + + +
सौरभ से दिगन्त पूरित था
अन्तरिक्ष आलोक अधीर
\+ + + +
रत्न-सौध के वातायन जिनमे
आता मधु मदिर समीर।
गया सभी कुछ गया"

श्रद्धा के यहाँ से मनु का पलायन आध्यात्मिक जीवन से मानव के आधुनिक पलायन की ओर संकेत कर रहा है। इडा की ओर मनु के झुकाव तथा आकर्षण द्वारा साम्प्रत बुद्धिवाद की ओर मानव का आकर्षण दिखाया गया है। बुद्धिवाद का प्रश्रय लेनेवाली जातियाँ किस प्रकार भौतिक विकास कर रही है यह सारस्वत प्रदेश के भौतिक विकास मे दिखाई पडता है।

अन्ततोगत्वा श्रद्धा के अभाव में इस बुद्धिवाद का परिणाम क्या होगा, यह मनु की दुर्दशा द्वारा कवि ने दिखाया है। मनु को शान्ति या आनन्द तभी मिलता है, जब वे श्रद्धा के सत्स्वरूप को पहचानकर उसे शरीर से ही नहीं वरन् आत्मा से भी अपना लेते हैं, उसी प्रकार बुद्धिवादियों को आनन्द तभी मिलेगा जब वे आध्यात्मिक संस्कृति के आत्मतत्त्व को अपना लेंगे। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आध्यात्मिक संस्कृति के होते हुए भी हम भारतवासियों को शान्ति या आनन्द क्यों नहीं मिलता। शान्ति या आनन्द तो दूर रहा, हम रोटी के टुकड़ों के लिए क्यों तरसते हैं। इसका कारण यही है कि मनु की तरह हम अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के शरीर या ढाँचे (रूढियों) पर ही मोहासक्त हैं। हमारी संस्कृति के ठीकेदार वे हैं जिन्हें मनु की तरह आध्यात्मिक संस्कृति का सत्स्वरूप (समन्वय, लोक-धर्म, प्रेम-तत्त्व, सेवा, करुणा, सामाजिक समानता, उदारता, भिन्न-भिन्न वर्णों की ही नहीं वरन् मानव मात्र की एकता आदि) ज्ञात नहीं यदि ज्ञात भी है तो वे उसका आचरण नहीं कर रहे हैं। हमारे सांस्कृतिक विधि-निषेधों का दुर्वह भार आज उनके ऊपर है जो मनु के समान अपने क्षणिक वैयक्तिक स्वार्थों में आसक्त हैं।

इस बुद्धिवादी युग में लोगों का व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार सामाजिक जीवन से अलग हो रहा है। समाज में उनका स्वाँग कुछ है, और व्यक्तिगत जीवन में कुछ और। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन के नैतिक, आचार-विचार का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से टूट रहा है। व्यक्तिगत जीवन की अनीति, अनाचार, पतन आदि को लोग आज पाप नहीं मानते जब तक कि वह समाज को ज्ञात न हो। इस आडम्बर तथा खोखलेपन से आज समाज में कैसी अशान्ति, उपद्रव तथा विशृङ्खलता उत्पन्न हो रही है उसे कवि ने

मनु के सारस्वत प्रदेश के चरित तथा कार्यों द्वारा दिखाया है। शासक-शासित तथा व्यक्ति-समाज के सन्तुलन-भङ्ग से आज जो परिणाम हो रहा है वही परिणाम सारस्वत प्रदेश में हुआ। शासन-कला का उद्देश है शासक तथा शासित में सन्तुलन स्थापित करना। इसी सन्तुलन के भङ्ग से प्रजा विद्रोह करती है, परन्तु इतने पर भी जब शासक समन्वय स्थापन की उपेक्षा कर, अपनी अहमहमिकता के कारण नैतिक आदर्श से च्युत होने पर भी शासित-समाज को कुचलने के लिए बर्बरता या बल का प्रयोग करता है तब समाज भी अन्तिम अवस्था में मृत्यु निकट देख लड़कर मर जाने में ही अच्छा समझता है। अतः वह भी बल का प्रयोग करता है। अन्ततोगत्वा ऐसे बबर शासक की दशा वैसी ही होती है जैसी मनु की हुई। मनु के बर्बर शासन द्वारा प्रसादजी आधुनिक शासन-विधि की बर्बरता की ओर सकेत कर रहे हैं कि वह कितनी अपूर्ण अपरिपक्व तथा आसुरी वृत्ति से भरी है, शासक किस प्रकार आज प्रजा की रक्षा नहीं, भक्षा कर रहे है, प्रजा का पालन नहीं रक्त चूस रहे हैं, प्रजा को बलवान् नहीं निर्बल बना रहे हैं तथा अपनी अहमहमिकता के प्रदर्शन के लिए प्रजा की बलि दे रहे हैं।

मानव-समाज के दुहरे उद्देश्य हैं, व्यक्तिगत ध्येय की साधना और प्राप्ति के साथ-साथ सामाजिक ध्येय तथा साधना की प्राप्ति। जिस प्रकार व्यक्तिगत हित का ही ध्यान रखना एकांगी दृष्टिकोण है तद्वत् समाज के ही हित का ध्यान रखना एकमुखी साधना। जब कोई व्यक्ति किसी समाज के हित में बाधक होने लगता है तो वह समाज, उस व्यक्ति को ध्वस्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उसी प्रकार जब कोई समाज व्यक्ति के हित या ध्येय की उपेक्षा करने लगता है तो वह व्यक्ति उस समाज को नष्ट

करने के लिए अपने को उत्सर्ग कर देता है। इस भूतल पर जितनी क्रान्तियाँ तथा गृहयुद्ध हुए उनका मूल कारण इसी सन्तुलन का अभाव रहा है। अर्थात् मानव समाज के इतिहास की चिर समस्या व्यक्ति और समाज का सन्तुलन है और आज की क्रान्तियो, विप्लवो, आन्दोलनो एव गृहयुद्धों का कारण भी इसी सन्तुलन का अभाव है। आज का बुद्धिवादी भौतिक प्राणी किस प्रकार अपने क्षणिक व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सामाजिक हित की बलि कर रहा है, यह मनु के उस कार्य द्वारा व्यञ्जित हो रहा है, जहाँ वे अपने क्षणिक विलास की तृप्ति मे आतुर हो प्रकृत-त्रस्त विकम्पित प्रजा की आर्त पुकार नही सुनते।

श्रद्धा तथा इड़ा दोनो की स्वतन्त्र गति एव प्रेम द्वारा नारी-स्वातन्त्र्य समस्या की ओर कवि सकेत कर रहा है। प्रसादजी आधुनिक नारी-स्वातन्त्र्य आन्दोलन का समर्थन करते है। इसका आभास उनके नाटकों मे भी यत्र-तत्र मिलता है। वे नारी-स्वातन्त्र्य समस्या के विषय मे पण्डित जवाहरलाल नेहरू मे निम्नाङ्कित मत से पूर्ण सहमत थे—"हमारे समाज की रचना का बुनियादी पत्थर स्त्री-स्वातन्त्र्य होना चाहिए और उसी आधार पर समाज का निर्माण होना चाहिए क्योंकि हमारे समाज की इमारत की नींव नारी देती है।" हमारे वैदिक समाज मे स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उन्हे सामाजिक उन्नति के सभी अधिकार प्राप्त थे। वे गृह-देवी के समान अर्चनीय थीं। इसी लिए वह समाज उन्नति के शिखर पर स्थित था। पर आज की नारी को कोई अधिकार नही। जब वह गृहदेवी मानी जाती है, तब अधिकार शून्य है और जब उसे अधिकार मिल जाता है तो वह गृहदेवी नहीं। अधिकार-शून्य देवी बनना नारी-जीवन के लिए एक विडम्बना है और अधिकार पूर्ण दासी बनना जीवन का अपमान। इसी लिए

नारी आज अपने चिर खोए अधिकारपूर्ण नारीत्व को प्राप्त करने मे सतत प्रयत्नशील है पर स्वार्थी पुरुष नारी को सदा दासी रूप मे रखना चाहता है, वह उसे अपने विलास और वासना की तृप्ति का प्याला बनाना चाहता है। जब कभी इस प्याले के भरने मे नारी कमी करती है तो वह उन्मादी पुरुष मदिरा-हीन मिट्टी के प्याले के समान उसे ठुकरा देता है, जिसका परिणाम तलाक प्रथा के रूप मे आज हम समाज मे देख रहे है। विलासी मनु भी श्रद्धा का अपनी वासना-तृप्ति मे कुछ कमी देखकर तलाक देकर भाग जाते है। श्रद्धा के स्वयवरण से कवि यह सकेत करता है कि आज जाग्रत् नारियाँ स्वयवरण का अधिकार लेने का प्रयत्न कर रही है। नारी को यह अधिकार प्राचीन काल मे प्राप्त था। बाद को स्वार्थी लोलुप पुरुष ने उससे छीन लिया, जिससे वह योग्य पति को न पाकर अपने दुर्भाग्य पर जीवन भर रोती है। उसके वेदनामय आँसुओ से समाज की शिला कट रही है। उसका क्रन्दन समाज मे हाहाकार मचाये हुए है। पर स्वार्थी मदमत्त मानव ने उसके क्रन्दन पर कभी ध्यान ही नही दिया। इसी लिए वह आज अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए अपने पैरो पर खडा होना चाहती है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के नारी-स्वातन्त्र्य का अर्थ पश्चिमी नारी-स्वातन्त्र्य नहीं है। वे भारतीय दृष्टि से नारी-स्वातन्त्र्य के समर्थक है जिसमे नर और नारी मे समरसता हो, और वे एक दूसरे के अधिकारो, हितो तथा स्वार्थो की रक्षा करे।

कामायनी की अधिकाधिक काल्पनिक घटनाएँ आधुनिक समस्याओं की ओर सकेत कर रही है। विलासी, विकृति पूर्ण आडम्बर से भरी नागरिक सभ्यता से लोग ऊब गये है। नगरो से ग्रामो की ओर भाग रहे है। उनकी इस रुचि का संकेत मनु

के सारस्वत नगर की पलायनवाली घटना से मिलता है। प्रसादजी स्वयं नागरिक सभ्यता में अरुचि रखते थे। उनकी उस अरुचि का चित्रण 'एक घूँट' में 'विवेक' की निम्नांकित उक्ति से स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। "विवेक—तुम लोगों ने नगर बना कर धोखे की टट्टियों और जालों का प्रस्तार किया है, तुम्हीं मुँह के बल गिरोगे। लौट चलो नैसर्गिक जीवन की ओर; क्यों कृत्रिमता के पीछे दौड़ लगा रहे हो?" प्रसादजी नगर-निर्माण, विलासशील प्राणियों के प्रयत्न का परिणाम मानते थे। इसी लिए उन्होंने कामायनी के पहले एक घूँट में अरुणाचल आश्रम वासियों के जीवन में ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की संधि दिखाई है। कामायनी में भी यह संधि तीर्थाटनवाली घटना से दिखाई गई है। सारस्वत नगर के निवासी कैलास-आश्रम पर पहुँचते हैं, जहाँ मनु मनुष्यान-निरत हैं, श्रद्धा अपने अर्चना-सुमनों की अञ्जलि भर कर खड़ी है। इस अभेद-भाव से भरे तपोवन में आने से नागरिक की सारी कृत्रिमता, आडम्बर, धोखा, विलास आदि सभी पाप छूट जाते हैं। इस घटना से कवि ने आश्रम तथा तीर्थाटन के मूल में निहित वैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या के साथ-साथ उसके सामयिक अनुशीलन की आदर्श विधि भी सामने रखी है। नागरिक सभ्यता को अपनी विकृति, विलास, अहंभाव, आडम्बर, बाह्य-आकर्षण, छल, प्रपंच आदि भौतिक तत्त्वों का अतिवाद दूर करने के लिए ग्राम्य या वन्य सभ्यता से मिलना चाहिए। तद्वत् भौतिक विकास तथा भौतिक शक्तियों की वृद्धि के लिए ग्राम्य सभ्यता को नागरिक सभ्यता से मिलना चाहिए। तीर्थाटन के मूल में अन्तःशुद्धि की भावना वर्तमान है। सारस्वत नगर के तीर्थ-यात्री कैलास-तीर्थ में जाकर श्रद्धा और मनु के दर्शन से पवित्र हो जाते हैं उनकी अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है, भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती

है, अखण्ड आनन्द का दर्शन होता है। इस प्रकार वर्ण, आश्रम, तीर्थ, नारी, धर्म, राजा-प्रजा के कर्तव्य अधिकार आदि की वैज्ञानिक व्याख्या तथा सामयिक रूप बताते हुए प्रसादजी ने मनुस्मृति के सामयिक अनुशीलन की विधि पाठकों के समक्ष रखी है। सारस्वत नगर का विप्लव इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि अध्यात्म (हृदय या श्रद्धा) के अभाव में बुद्धि की भित्ति पर स्थित साम्यवाद या संघवाद, किसी न किसी दिन सामन्तवाद में परिणत हो सकता है और वह हमारे लिए उतना ही दुख-दायी होगा जितना सम्प्रति सामन्तवाद, राजतन्त्र तथा लोकतन्त्र हो रहे हैं। साम्यवाद या संघवाद से सुन्दर से सुन्दर भौतिक नियमों, बौद्धिक नियन्त्रणों के रहते हुए, वर्गभेद, वर्णभेद, जातिभेद के मिट जाने पर, वैयक्तिक सम्पत्ति न रहने पर, सबको उन्नति या विकास का समान अवसर मिलने पर, परिवर्तनशील भौतिक आनन्द की वृद्धि हो सकती है। भौतिक सुविधाएँ अधिक से अधिक मिलने पर भौतिक कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। भौतिक दृष्टि से सामाजिक या राजनीतिक सुधार विकास की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच सकता है, परन्तु श्रद्धा (हृदय) या अध्यात्म के अभाव में साम्य, स्वातन्त्र्य, एकता, सबके अधिकार, कर्तव्य, रक्षा, शान्ति। आदि की स्थापना स्थायी रूप से समाज में नहीं हो सकती। सारस्वत नगर में प्रथम इडा (बुद्धि) द्वारा स्थापित साम्यवाद ही तो था, परन्तु श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव में वह सामन्तवाद का रूप धारण कर लेता है। श्रद्धा या अध्यात्म के अभाव में साम्य, कर्तव्य तथा अधिकार से मनु च्युत हो जाता है। प्रकृति-त्रस्त प्रजा की रक्षा का ध्यान छोड़ देता है। परिणामतः समाज में विप्लव तथा क्रांति तुरत उत्पन्न हो जाती है। जब तक किसी राष्ट्र या जाति में स्वार्थ तथा

अहमहमिका की भावना रहेगी तब तक हिंसा या युद्ध की प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती और जब तक हिंसा या युद्ध की प्रवृत्ति दूर नहीं होगी तब तक समाज में साम्य, स्वातन्त्र्य, एकता, शान्ति, सुख आदि की रक्षा स्थायी रूप से नहीं हो सकती। तब प्रश्न यह है कि अहमहमिका तथा स्वार्थ की भावना दूर कैसे हो? अहमहमिका तथा स्वार्थवृत्ति दोनों भीतरी रोग हैं; अतः उनको दूर करने के लिए ऐसी दवा की आवश्यकता है जो भीतर पहुँच सके। भौतिक साम्यवाद तो ऐसी दवा देता है जिसका प्रभाव केवल बाहर ही बाहर पड़ता है। भौतिक नियमों तथा नियन्त्रणों का प्रभाव केवल शरीर पर पड़ सकता है मन या आत्मा पर नहीं। इसी मन या आत्मा पर प्रभाव डालने के लिए अध्यात्म की आवश्यकता है। बिना अंतरात्मा को जगाए, बिना विश्वात्मा की कल्पना किए, बिना अपने को उस विश्वात्मा की इकाई माने भाई भाई का साम्यमूलक भाव आ ही नहीं सकता। साम्य आए बिना अहमहमिका का नाश नहीं हो सकता और बिना अहमहमिका के लोप हुए, स्वार्थवृत्ति का दमन नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह कि आत्मा, ईश्वर, या अध्यात्म की कल्पना के बिना क्षमा, उदारता, दम, सहानुभूति, प्रेम, समता, एकता, स्वतन्त्रता आदि भाव टिकाऊ नहीं हो सकते। इस विचार को प्रसादजी ने तितली में स्पष्ट कर दिया है "जब ईश्वर-भाव या आत्मा का निर्वासन होगा तो सब लोग दया, क्षमा, उदारता, सहानुभूति और प्रेम के उद्‌गम से अपरिचित हो जायँगे जिससे ये व्यवहार टिकाऊ नहीं होंगे। प्रकृति में विषमता तो स्पष्ट है। नियन्त्रण के द्वारा उसमें व्यावहारिक समता का विकास न होगा। भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकेगी। यान्त्रिक सभ्यता पुरानी होते ही ढीली हो कर बेकार हो जायगी। उसमें प्राण

बनाए रखने के लिए व्यावहारिक समता के ढाँचे मे या शरीर मे भारतीय साम्यवाद या आत्मवाद की आवश्यकता है। मै मानता हूँ, पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है। किन्तु उसमे प्राण-संचार करना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है। यहीं पूर्व और पश्चिम का वास्तविक साम्य होगा जिससे मानवता का स्रोत प्रसन्न धारा मे बहा करेगा।" साम्यवाद तथा आत्मवाद (भौतिक तथा आध्यात्मिक समता) के संयोग से भावी मानवता का कल्याण, इडा तथा मानव के मधुर मिलन से उत्पन्न शान्ति, समता, एकता, स्वतन्त्रता, आनद आदि को रक्षा द्वारा सिद्ध किया गया है।

मानव अपने जीवन की रक्षा से ही सतुष्ट नहीं हो सकता। वह पूर्णता के लिए उसका विकास भी चाहता है। रक्षा के लिए वह समाज और परिस्थितियों मे शान्ति चाहता है। रक्षा से निश्चिन्त होने पर पूर्णता के लिए विकास पथ-पर चलता हुआ स्वय परिवर्तन की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्थिरता के पश्चात परिवर्तन तथा परिवतन के पश्चात् स्थिरता का क्रम, विकास-शील समाज मे निरन्तर चला करता है। स्थिरता के बिना परिवर्तन तथा परिवर्तन के बिना स्थिरता की परिस्थिति तथा अवसर नहीं उत्पन्न हो सकते। अतएव मूलतः स्थिरता और परिवर्तन मे कोई विरोध नहीं वरन जन्य जनक सम्बन्ध है। परन्तु सकुचित या एकागी दृष्टिवाला व्यक्ति स्थिरता से इतना मोहासक्त हो जाता है कि मगलकारी परिवर्तन के स्वयमेव आने पर भी उसे ठुकरा देता है। यह उसके जीवन की विडम्बना है कि परिवर्तन की परिस्थितियों का स्वय निर्माण करते हुए भी उसके आने पर आश्चर्य करता है, यह उसकी दुर्बलता है कि परिवर्तन के बिना समाज मे दुर्व्यवस्था का अनुभव करते हुए भी उससे कोसों दूर भागना चाहता है, यह उसका दुस्साहस है कि वह विकासोन्मुख

परिवर्तन की परिस्थितियों को दूर करने की प्रकृति-विरुद्ध विफल चेष्टा करता है। दूसरी ओर परिवर्तनवादी व्यक्ति या समाज नूतनता का इतना प्रेमी हो जाता है कि वह अन्धानुकरण करने लगता है। अवसर-अनवसर देश-काल तथा परिस्थिति का विचार नहीं करता, बस परिवर्तन चाहता है। नूतनता के पीछे इतना पागल हो जाता है कि जीवन के उत्थान-पतन का ध्यान नहीं रखता, साधन और साध्य का अन्तर नहीं समझता। वह तनिक भी नहीं सोचता कि जीवन को समझने के लिए अतीत की ओर देखना आवश्यक है, क्योंकि समाज के अतीत अनुभव के आधार पर ही भविष्य का विकास-क्रम निश्चित किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों तरह के अतिवादी समाज में आज अधिक मात्रा में उत्पन्न हो गये हैं। यदि दोनों में समन्वय स्थापित नहीं हुआ तो समाज में घोर विप्लव तथा क्रान्ति की आशंका है। वर्तमान समाज की इस आवश्यकता —दोनों प्रकार के अतिवादियों की सन्धि या समन्वय को प्रसादजी भली भाँति समझते थे। अतः उन्होंने दोनों की सन्धि का द्वार कामायनी में उपस्थित किया। इसी लिए कुछ आलोचक कामायनी को दो भिन्न युगों का सन्धि-द्वार मानते हैं। भारतीय ऋषियों का हृदयवाद वाला युग तथा पश्चिम का आधुनिक बुद्धिवादी युग इस सन्धि में जुड़े हैं, जिससे धर्म और शक्ति हृदय और बुद्धि, प्रवृत्ति, और निवृत्ति, भौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति एवं ग्राम्य तथा नागरिक सभ्यता का समन्वय हो रहा है।

जिन वर्षों में प्रसाद के साहित्यिक जीवन की सृष्टि हुई थी वे वर्ष भारत में गान्धी-युग के नाम से पुकारे जाते हैं क्योंकि उन वर्षों में भारत का सबसे अधिक निर्माण गांधी द्वारा हुआ, विशेषतः कामायनी की रचना उन वर्षों में हुई जिस समय गांधी का

व्यक्तित्व भारत में अपने प्रभाव की चरम सीमा पर था। अतः प्रसाद की कामायनी गत विचार-धाराओं पर गान्धी का प्रभाव पड़ना आवश्यक था।' कामायनी के प्रसाद पर गान्धी का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए दोनों व्यक्तियों की तुलना आवश्यक है। दोनों मध्यवर्गीय भावनाओं के पोषक हैं। दोनों भौतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति की समरसता चाहते हैं। अतः दोनों अति उद्योगीकरण तथा मशीनों का विरोध करते हैं। दोनों अहिंसा तथा ग्रामोद्योग के प्रेमी हैं (प्रसाद का श्रद्धा के हाथ में तकली रखना तथा उससे अहिंसा पर एक लम्बा उपदेश दिलवाना इस बात को पुष्ट करता है) दोनों भारत को यान्त्रिक बुद्धिवादी सभ्यता के अभि-शाप से बचाना चाहते हैं, दोनों की धार्मिक भावनाएँ अत्यन्त विराट् तथा व्यापक हैं। दोनों धर्म की रूढ़ियों के कट्टर विरोधी हैं। दोनों हिन्दूधर्म की रूढ़ियों का खण्डन करते हुए उसके आत्मतत्त्व का स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार गान्धी सभी धर्मों के सार या सद्वस्तु को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते हैं तद्वत् प्रसाद भी। धार्मिक कट्टरता किसी में नहीं है। दोनों की धार्मिक भावनाएँ विश्व के लिए मानव-धर्म का स्वरूप खड़ा कर सकती हैं। दोनों संस्कृति का पुनरावर्तन चाहते हैं। दोनों प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय के पोषक हैं। गान्धी और प्रसाद दोनों प्रेम (काम) को मनुष्य जीवन का प्राकृतिक नियम मानते हैं। गान्धी अपनी जाति तथा देश से बाहर प्राणि मात्र के साथ ऐक्य-स्थापन का उपदेश देते हैं, कामायनी का भी तो यही मूल उपदेश है कि हम पर को स्वात्म कैसे करें।

कवि का हृदय जितना विशद, विस्तृत, तथा व्यापक होगा उतना ही उसके युग का चित्रण भी व्यापक होगा। कुछ कवि अपनी व्यक्तिगत सत्ता के कुछ ही बाहर जाते हैं। कुछ अपने पड़ोसियों

तक रह जाते हैं, उनसे बडे कवि अपने राष्ट्र तक जाते है तथा श्रेष्ठ कवि विश्व की प्रगति दिखाने मे समर्थ होते है। कामायनी मे विश्व-प्रगति की आत्मा का चित्र देखकर कौन नहीं कहेगा कि प्रसाद विश्व के श्रेष्ठ कवियो मे अपना स्थान बना सकते है।

निर्बल या सामान्य कवि प्रभाव रूप मे युग की विचार धाराओ का दास होता है। वह जो कुछ अपने चारों ओर देखता है वही चित्रित करता है, किन्तु समर्थ कवि युग की समस्याओं का चित्रण ही नहीं उनका सुलझाव भी उपस्थित करता है। वह युग की विचार-धाराओ का निरूपण ही नहीं करता प्रत्युत उनका उपयोगी तथा अनुपयोगी स्वरूप भी बताते चलता है। उपर्युक्त विवेचन मे यह बताया जा चुका है कि प्रसादजी ने युग की समस्याओं का चित्रण उनके समाधान तथा सुलझाव के साथ किया है। इस दृष्टि से प्रसाद निर्विवाद समर्थ कवि है। समस्याओं के समाधान मे प्रसादजी गुप्तजी की तरह नीतिवादी नही है। गुप्तजी का आदर्श सीधा, रास्ता सीधा तथा सीधा समाधान है। जीवन तत्त्व के वैषम्य का निर्वाह या समाधान वे नही कर सकते। प्रसादजी ने कामायनी मे श्रद्धा के अहिंसा उपदेश के अतिरिक्त, अन्य कहीं भी नीतिवादी रूप नही धारण किया है। प्रसाद का जीवनपथ विषम, समस्याएँ विषम तथा समाधान भी विषम है।

गुप्तजी की मानवता मे जीवनव्यापी सघर्ष नही, उनमे मध्य-वर्गीय सन्तोष है। प्रसादजी की मानवता मध्यवर्गीय भावनाओं से अनुप्राणित होते हुए भी जीवन-संघर्षों का सामना करने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहती है। उसमे मध्यवर्गीय सन्तोष नहीं प्रत्युत विकासोन्मुख असन्तोष का वेग है। प्रेमचन्द व्यक्ति, देश तथा जाति की सभी समस्याओं का कोना-कोना झाँक आये, परतु वे विश्व-जीवन की समस्याओ की ओर नही बढ सके किन्तु प्रसाद

जी ने व्यक्ति, देश तथा जाति के साथ-साथ विश्व की प्रमुख समस्याओं की ओर भी दृष्टिपात किया और उनका स्वरूप तथा समाधान दोनों कामायनी में चित्रित किया। प्रसादजी वैज्ञानिक प्रगतिवादी थे, केवल विज्ञान-प्रधान प्रगति, वे नहीं चाहते थे।

परिशिष्ट [१]

कामायनी में काम का स्वरूप

मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा है कि मैं सदा विद्यमान रहूँ। उसकी यह इच्छा 'अहम् स्याम्', 'अहम् बहु स्याम्' तथा 'अहम् बहुधा स्याम्' (मैं होऊँ, मैं बहुत काल तक बना रहूँ तथा मैं संख्या, आकार एवं रूप में बहुत बड़ा बनूँ) के रूप में प्रकट होती है। यह अस्मिता जब नित्य आत्मा या सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध होकर जीव को ऐषणातीत बनाकर, जब उसे सत्स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है तब काम के आध्यात्मिक स्वरूप का जन्म होता है। इसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम सृष्टि के आदि-काल में मूल पुरुष की सिसृक्षा 'सोऽकामयत् एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय' के रूप में प्रकट हुई। इसलिए कुछ विद्वान् सृष्टि परायन की पारमात्मिक इच्छा को काम कहते हैं, जो प्रत्येक जीव के भीतर चेतन या अचेतन रूप में विद्यमान रहती है, जो अहम् का इदम् से मेल कराती है, एक का अनेक से सम्बन्ध स्थापित करती है तथा जिसके द्वारा आत्मा अपने अस्तित्व का उपभोग करने में समर्थ होता है। काम के इस आध्यात्मिक स्वरूप की सर्वप्रथम चर्चा ऋग्वेद में मिलती है :—

> कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

मानस् का, जीवत्व का, संसार का रेतस् (बीज) काम सर्वप्रथम परमात्मा के निष्काम हृदय में था। मनीषी ऋषियों ने गहरी खोज करके हृदयस्थ परमात्मा में सत् से असत् का सम्बन्ध करानेवाले काम को प्राप्त किया। ऋग्वेद-काल में

काम, निर्वाण और मुक्ति का द्वार माना जाता था। इसी वैदिक काम की उपासना आगम शास्त्रो मे काम-कला के रूप मे विकसित हुई। इस उपासना के मूल मे सौन्दर्य और आनन्द की साधना निहित थी। काम के इस धर्माविरुद्ध स्वरूप के विषय मे भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'।

अर्थात् प्राणियों में धर्माविरुद्ध काम के रूप में मै ही हूँ। इसी काम भावना को आगे चलकर सूफियो ने प्रेम का रूप दिया। १२ वीं सदी मे सूफी धर्म के प्रौढ विद्वान् अरबी ने काम की बड़ाई बड़े रोचक ढग से की है।—काम के कायिक या भौतिक स्वरूप की घोर निन्दा करनेवाले कबीरदास जी ने भी काम के आध्यात्मिक स्वरूप के पूर्ण प्रत्यभिज्ञान तथा अनुशीलन को राम के पहचानने का परम साधन माना है—

'काम पिछाणै राम को जो कोइ जाणै राखि'।

(कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ५१)

यही अस्मिता जब अनित्य आत्मा या स्थूल शरीर से बँधकर ऐषणात्रय लोक, वित्त, (आहार) तथा दार (सुत) के रूप में प्रकट होती है, तब काम के भौतिक स्वरूप का जन्म होता है। काम का यह स्वरूप स्वार्थ, विलास, अहमहमिका आदि अनात्मिक वृद्धियों से शासित होने पर क्रोध, मन, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपुओं को उत्पन्न करता है। काम के इसी स्वरूप को भगवान् शकर ने भस्म किया था। इसी काम का वर्णन गीता मे 'सगात् सजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते' आदि प्रकार से हुआ है। इस काम को जीतने का आदेश सभी ऋषियों, मुनियों तथा सन्तों ने किया है। काम की इस अवस्था मे प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी वासना तृप्ति के वेग में

समाज के हित-अनहित, मंगल-अमगल, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, तथा उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। काम क इस स्वरूप के अनुशीलन से सृष्टि-प्रणयन नहीं, अपितु सृष्टि-प्रलय होना है।

काम के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए उसके सामान्य तथा विशेष रूपो पर भी यही विचार कर लेना आवश्यक है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियो[1] के पाँचों विषयो (रूप, रस, गंध, शब्द एव स्पर्श) मे प्रकृति-अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा काम सामान्य है। इस अर्थ मे काम शब्द इच्छा, वासना, तृष्णा आदि का पर्याय है। पशु प्रायः किसी एक विषय के पदार्थ मे अधिक आसक्त देखे जाते है, जैसे हरिण शब्द में, हाथी स्पर्श में, भ्रमर गन्ध मे, पतग रूप मे, मछली रस में, किन्तु मनुष्य को पाँचो विषयो के पदार्थ प्यारे है। इसलिए वह पचशर का शिकार बनता है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के शरीर मे इन पाँचो विषयो के सार का अनुभव करते है। इसलिए[2] स्त्री-पुरुष मिथुनता बोधक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, निकट या दूरस्थ सम्बन्ध भावना को काम-विशेष कहते है। आज-कल काम शब्द का प्रयोग सामान्यतः इसी अर्थ मे होता है।

फ्रायड काम का अर्थ केवल मैथुन काम से ही नहीं लेता। उसके काम-स्वरूप के अन्तर्गत सब प्रकार के प्रेम तथा सब प्रकार

---

१ श्रोत्रत्वक् चक्षुजिह्वाघ्राणानाम् आत्मसंयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकुल्यतः प्रवृत्तिः कामः। (वात्स्यायन)

२ स्पर्शविशेषविषये तु अस्य आभिमानिक सुखानुविद्धाफलवती अर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः (वात्स्यायन)

के मिलन की भावना समाहित है। इसी लिए वह काम का अस्तित्व बाल, वृद्ध, युवा, सभी के जीवन में देखता है। पश्चिमवाले अधिकतर काम को शरीरी रूप में ही देखते हैं। इसका स्वरूप ऐन्द्रिक ही मानते हैं। इनको भौतिक दृष्टि ऊपर उठने नहीं देती। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण में काम अशरीरी भी है, रूप तथा नाम रहित है, वह विश्व चेतना की पूर्ण प्रतिमा है। वह साकार रूप होने पर मानव शरीर का रूप धारण करता है।

हमारे यहाँ बहुत पहले काम का स्वरूप समझाया जा चुका है, वह जीता जा चुका है, वह जलाया जा चुका है, वह अशरीरी बनाया जा चुका है किन्तु पश्चिम वाले तो अभी उसका स्वरूप समझ ही नहीं पाये हैं, इसी लिए उसके भीतर स्वयं जल रहे हैं तथा सारे संसार को जला रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता के मोहाकर्षण में स्त्री-पुरुष दोनों अपने स्वरूप को भूल रहे हैं। नारी, पुरुष बनने के प्रयत्न में पुरुषों के वेश, वृत्ति, कार्य, चेष्टा, अधिकार आदि का अनुकरण करते हुए अपने नारीत्व को दुर्बल बना रही है, पुरुष मानो नारी बनने के प्रयत्न मे नारियों की चेष्टा, वृत्ति, स्वभाव, गुण आदि का अनुकरण करते हुए पुरुषत्व से दूर हटता जा रहा है। जब दोनों अपने ही स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं तो भला एक दूसरे के स्वरूप को कैसे समझेंगे और जब तक दोनों एक दूसरे के सत्स्वरूप को समझेंगे नहीं, तब तक उन्हें सच्चा कामानन्द प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण वह काम जो सृष्टि-प्रणयन, विश्वमैत्री, अमरत्व तथा विश्व-चेतना का प्रतीक है, जिस काम द्वारा हमारा अस्तित्व प्रकट होता है, जिस काम द्वारा हम अपने अस्तित्व का उपभोग करने में समर्थ होते हैं, जिससे हमारी जीवन शृङ्खला बढ़ती है तथा जो प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान साध्य है, वह लज्जा, घृणा तथा पाप का विषय

बन रहा है तथा स्त्री-पुरुष जो काम-समुद्र को पार करने के लिए एक दूसरे को नौका सदृश थे, वे आज डुबानेवाली आँधी समझे जा रहे हैं। पुरुष को दृष्टि में स्त्री कामिनी तथा स्त्री की दृष्टि में पुरुष कामी बनकर दोनों एक दूसरे के घृणा के पात्र बन रहे हैं। काम के इस वर्तमान असत् रूप तथा तज्जनित दुर्दशा से कवि की आत्मा तड़प उठी थी, इसलिए काम का सत्स्वरूप समझाने के लिए उसने कामायनी जैसे महाकाव्य की रचना की। कामायनी के आरम्भ में सर्वप्रथम काम का शरीरी रूप देवताओं की कामोपासना द्वारा दिखाया गया है, काम स्वयं कहता है—

मेरी उपासना करते वे,
मेरा संकेत विधान बना।
विस्तृत जो मोह रहा मेरा,
वह देव-विलास वितान तना॥
मैं काम रहा सहचर उनका,
उनके विनोद का साधन था।
हँसता था और हँसाता था,
उनका मैं कृतिमय जीवन था॥
देवों की सृष्टि विलीन हुई,
अनुशीलन में अनुदिन मेरे।
मेरा अतिचार न बन्द हुआ,
उन्मत्त रहा सब को घेरे॥

देवताओं द्वारा उपासित काम, दम्भ, स्वार्थ, विलास आदि अनात्मिक वृत्तियों से शासित है; अनित्य आत्मा या स्थूल शरीर से आबद्ध है; क्रोध, मद, मोह, मत्सर, दम्भ आदि उत्पन्न करनेवाला है। काम की इस अस्वस्थ अवस्था में वासना सरिता का मदमत्त-प्रवाह तृष्णा का ओघ उत्पन्न करता है, जिसका संगम प्रलय-जलधि मे

होता है। काम का यह स्वरूप नितान्त धर्म-विरुद्ध, वैयक्तिक, मासल तथा स्वार्थी होता है। काम की इस अवस्था मे प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी वासना-तृप्ति के वेग मे समाज के हित-अनहित, मगल-अमगल, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति का विचार नही करता। कवि ने काम के इस कायिक स्वरूप का परिणाम भी बहुत उचित दिखाया है। प्रलय से बढकर दूसरा कुपरिणाम हो ही क्या सकता था।

अमर सन्तान होने के कारण मनु की काम-विषयक भावना भी अन्य देवताओ के सदृश ही है। ये भी कायिक काम के उपासक है। वासना-तृप्ति को स्वर्ग माननेवाले है, नारी को विलास-मदिरा पान करने का प्याला समझते है। यह बात मनु सम्बन्धी काम की उक्ति से अधिक स्पष्ट हो जायगी, –

"हाँ तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम मे पहला स्थान दिया॥

   

वासना को जीवन के प्रथम स्थान देने के कारण मनु नारी के सत्स्वरूप को पहचान नहीं सके। श्रद्धा की जड़ देह मात्र पर आसक्त होने के कारण उसके 'अमृत-धाम' 'कल्याण-भूमि' हृदय' तक नहीं पहुँच सके—

"मनु! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमे जीवन का भरा मान।
जिसमें चेतना ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान॥
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य जलधि से भर लाए केवल तुम अपना गरल पात्र॥"

जब तक मनु काम के इस भौतिक अस्वस्थ स्वरूप की उपासना करते रहे, तब तक वे अपने अस्तित्व का उपभोग न कर सके, अहं का इदं से समन्वय स्थापित न कर सके, क्रोध, मद, मोह लोभ, मत्सर, स्वार्थ आदि अनात्मिक वृत्तियों से भरे रहे, विलासोन्मद उच्छृङ्खलता के आवेग मे, क्या व्यष्टि क्या समष्टि; किसी भी प्रकार की मंगल-साधना न कर सके। कामायनी, महाकाव्य के प्रधान पात्र के रूप मे पाठकों के समक्ष आती है; अतः उसका काम सिद्धान्त कवि का सिद्धान्त माना जा सकता है क्योंकि कवि अपने अन्य ग्रन्थों मे भी प्रधान पात्र का पक्ष लेता हुआ दिखलाई पड़ता है। श्रद्धा काम के स्वरूप को पहचानती है, इसलिए वह सदा धर्माविरुद्ध काम का पक्ष ग्रहण करती है। वह मनु के समान कहीं भी केवल कायिक काम की उपासना नहीं करती। वह विलास से अपनी काम-भावना को कभी शासित नहीं करती, वासना-तृप्ति को जीवन मे स्थान नहीं देती, तृष्णा तथा अतृप्ति के दाह मे कभी नही जलती। उसका काम, सदा नित्य आत्मा या सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध है, आत्मिक वृत्तियों से सदा शासित है। अतः उसके अनुशीलन से क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपु कभी उत्पन्न नहीं होते। कामायनी का काम, विश्वमैत्री, विश्वचेतना, अमरत्व, सृष्टि-प्रसाधन विश्वउन्मीलन, व्यष्टि तथा समष्टि-मगल-साधना, आत्म-विस्तार, सिसृक्षा, मूलशक्ति, पूर्ण प्रकृति माधुर्य, सौन्दर्य, आनन्द आदि का प्रतीक है, तभी तो उसका काम निर्वाण तथा सुकृति का द्वार बनता है, वह व्यष्टि तथा समष्टि की मंगल-साधना में सफल होती है, अपने अस्तित्व का पूर्ण उपभोग करने मे समर्थ होती है, अहं का इद से समन्वय स्थापित कर लेती है, जीवन-शृखला को उत्तरोत्तर बढाने मे सफल होती है; तथा अपने पतिदेव मनु के लिए

तरण-तारिणी सिद्ध होती है। इसी लिए कवि भी उसे पूर्ण (सामान्य, विशेष, आध्यात्मिक तथा भौतिक) काम की प्रतिमा मानता है।

"वह विश्व चेतना पुलकित, थी पूर्ण काम की प्रतिमा।"

श्रद्धा के उपर्युक्त काम-सिद्धान्त से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रसादजी की काम सम्बन्धी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी, जिसके भीतर काम के सभी स्वरूप-आध्यात्मिक, भौतिक, सामान्य तथा विशेष आ जाते हैं। जैसे, काम का आध्यात्मिक स्वरूप विश्वरेतस् या विश्वोन्मीलन के रूप मे देखिए—

वह मूल शक्ति उठ खडी हुई,
अपने आलस का त्याग किए।
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।

वह मूल शक्ति क्या थी ? काम। वह कब उठ खड़ी हुई* ? प्रलय के पश्चात्, सृष्टि के आरम्भ में। काम के उत्पन्न होने पर क्या हुआ ? सृष्टि के अणु परमाणु मे मिलने का आकर्षण उत्पन्न हुआ—

कुंकुम का चूर्ण मिलाते थे,
मिलने को गले ललकते थे।
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के,
विद्युत्कण मिले झलकते से।
वह आकर्षण वह मिलन हुआ,
प्रारम्भ माधुरी छाया मे।

*"जब विलोड़ित जल राशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया; उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये" कामना पृष्ठ १४

जिसको कहते सब सृष्टि बनी,
मतवाली अपनी माया में।
वह आकर्षण क्या था ? रति*।
जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर में उसकी चाह रही।

उस आकर्षण तथा मिलन का क्या परिणाम हुआ ? सृष्टि प्रणयन तथा विश्वोन्मीलन।

हम दोनों का अस्तित्व रहा,
उस आरम्भिक आवर्तन सा।
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा।

काम सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने काम की बड़ी ही रम्य भूमिकाएँ बाँधी हैं जिनसे काम-सामान्य का अत्यन्त मनोरम रेखाचित्र चित्रित होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के सभी विषयों—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के रमणीय चित्र सजाए गए हैं जिनके माधुर्यपान में मनु रत हैं—

"पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ,
यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भरा।
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा।

काम-विशेष का चित्र वासना सर्ग में दिखाई पड़ता है जहाँ श्रद्धा और मनु एक दूसरे के शरीर में पाँचों विषयों के सार

* कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च।

का अनुभव करते हुए परस्पर प्रेमासक्त होते हैं, अन्ततोगत्वा काम को मर्यादित तथा सयमित रूप देनेवाले सस्कार—विवाह या परिणाय मे दोनों आबद्ध हो जाते हैं। काम के भौतिक स्वरूप का चित्र मनु के इडा वाले प्रसङ्ग मे मिलता है जहाँ वे अपनी विलासोन्मद उच्छृ खल-वासना-तृप्ति के वेग मे सामाजिक मर्यादा-अमर्यादा, मंगल-अमगल, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, औचित्य-अनौचित्य का विचार त्याग इड़ा के ऊपर आक्रमण करते है।

मै अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश-बालिके बता
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरों के रस मे

* * * *

तब तुम प्रजा बनो मत रानी! नर-पशु कर हु कार उठा।

* * * *

आलिङ्गन! फिर भय का क्रन्दन! बसुधा जैसे काँप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!

अन्त में मनु के पराभव द्वारा कवि ने इस भौतिक काम का उचित परिणाम दिखाया है। भौतिक काम का पाप उनके लिए शाप बन जाता है। केवल सारस्वत प्रदेश की प्रजा ही नहीं प्रत्युत् सम्पूर्ण प्रकृति भी मनु के विरुद्ध विप्लव तथा विद्रोह उपस्थित करती है। मनु के साथी भी इस विप्लव मे उनका साथ छोड़ देते है। अन्ततोगत्वा रणस्थल में मनु मुमूर्षु अवस्था में डाल दिये जाते है। इस प्रकार मनु का काम विलास के शासित होने के कारण सर्वत्र सघर्ष, अशान्ति, उद्वेग, विध्वस, प्रलय उपस्थित करता है।

काम की विशदता तथा व्यापकता का विस्तृत चित्र काम सर्ग में मिलता है। काम का जन्म होते ही सृष्टि के कण कण मे मिलने

का अद्भुत आकर्षण छा गया, सभी विश्लिष्ट पदार्थ संश्लिष्ट हुए, प्रकृति के सभी क्षेत्रों मे मधुर मिलन छा गया:—

प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही।
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था
मादक मरन्द की वृष्टि रही।
भुजलता पडी सरिताओं की
शैलो के गले सनाथ हुए।
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का दो-दो साथ हुए।
कोरक अंकुर सा जन्म रहा।
हम दोनों साथी भूल चले।
उस नवल सर्ग के कानन मे
मृदु मलयानिल से फूल चले।

प्रसादजी काम की शक्ति अनन्त मानते हैं। हमारी काम भावना के अनुसार हमारा अदृष्ट बनता है। भविष्य का सुख-दुख; उत्थान-पतन, मंगल-अमंगल मनुष्य की काम भावना के अनुसार निर्दिष्ट होता है।

यह कौन ? अरे फिर वही काम ?
जिसने इस भ्रम मे है डाला छीना जीवन का सुख विराम।

* * * *

वे सोच रहे थे "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया।
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया।
लिख दिया आज उसने भविष्य ! यातना चलेगी अन्तहीन।

मनुष्य का उत्थान-पतन, सुख-दु ख; आत्मिक तथा अनात्मिक वृत्तियों के शासन पर निर्भर है। यदि वह आत्मिक वृत्तियों

द्वारा शासित होगा तो उसका भविष्य उज्ज्वल होगा, वह दिन प्रतिदिन उन्नति करेगा, वह सदा सुखी रहेगा। यदि वह अनात्मिक वृत्तियों द्वारा शासित होगा तो उसका भविष्य यातनामय होगा, वह सदा पतित होता रहेगा। मनुष्य की काम भावना भी इन्हीं दो प्रधान वृत्तियों द्वारा शासित होती रहती है, जब काम भावना पर आत्मिक वृत्तियों का शासन होगा तब पंच ज्ञानेन्द्रियों के पाँचों विषय—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, ऐन्द्रिक सुख के साथ-साथ सृष्टि प्रसारण तथा मंगल-साधना में योग देंगे। मनुष्य की काम-भावना जब अनात्मिक वृत्तियों द्वारा शासित होगी तब काम* से क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि षड्रिपु उत्पन्न होकर उसका सर्वनाश करेंगे। गीता में इन्हीं आत्मिक तथा अनात्मिक वृत्तियों के आधार पर काम के दो भेद किए गए हैं। धर्माविरुद्ध काम तथा धर्मविरुद्ध काम। धर्माविरुद्ध काम भविष्य को उज्ज्वल मंगलमय तथा समृद्धशाली बनाता है। धर्म-विरुद्ध काम भविष्य को यातनामय, पतनशील तथा पापमय बनाता है। हमारे सभी पाप और पुण्य की कर्ता है—हमारी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ। हमारी कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को घुमानेवाली केन्द्रीय मशीन है हमारी काम भावना। इस प्रकार हमारे सभी पाप-पुण्य, हमारी काम भावना के ऊपर निर्भर हैं। अतः प्रसादजी की उपर्युक्त उक्ति में कोई अत्युक्ति नहीं है कि हमारा अदृष्ट—भविष्य का सुख-दुख, उत्थान-पतन, हमारी काम-भावना पर निर्भर है।

---

* संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः। स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति। (गीता)

प्रसादजी का काम, सृष्टि की आरम्भिक क्रिया का प्रतीक ही नहीं वरन् विश्व-प्रगति का प्रतीक है। वे संसृति की सभी* क्रियाओं, चेष्टाओं एव समृद्धिओं का मूल कारण या प्रेरणा काम मानते हैं—

"आरम्भिक वात्या उद्गम मैं,
अब प्रगति बन रहा संसृति का।"

काम के इस स्वरूप के भीतर ऐषणात्रय का समावेश स्वयमेव हो जाता है क्योंकि संसृति की सभी चेष्टाओं तथा क्रियाओं की प्रेरणा भूमि उन्हीं मे है।

प्रसादजी की काम-भावना कामना नाटक मे अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। विलास काम के विषय मे कहता है "प्रकृति से मिली हुई कैसी-सीधी जाति है।

❀ ❀ ❀ ❀

सीधी जाति पर यदि शासन न किया तो पुरुषार्थ ही क्या ?

❀ ❀ ❀ ❀

मेरे कारण शीघ्र इनको (काम को) अपने पद से हटना होगा।

❀ ❀ ❀ ❀

विलासः—आश्चर्य! कैसी प्रकृति से मिली हुई जाति है। महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है। यह जाति जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती है।"

---

*अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद् हि कुरुते जन्तु तत्तस्य कामस्य चेष्टितम्। (मनु) कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागता। (शिवपुराण)

प्रसादजी की दृष्टि में काम अपने सत्स्वरूप में प्रकृति का प्रतीक है। जैसे प्रकृति सृष्टि का बहिर्विकास करती है तद्वत् काम द्वारा विश्वोन्मीलन होता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में काम और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं, काम अपने स्वाभाविक रूप में निष्काम रहता है। अतः उसमें आकांक्षा का लेश भी नहीं रहता। काम अपनी विकृत अवस्था में ऐषणात्रय या विलास से शासित होता है। काम की स्वाभाविक अवस्था में आकांक्षा या वासना का अत्यन्ताभाव रहने के कारण संघर्ष या अशान्ति का प्रवेश वहाँ नहीं हो पाता। वासना-प्रेरित काम में विलास का शासन होने के कारण काम अपने स्थान से च्युत हो जाता है, अतः वहाँ अशान्ति, संघर्ष, उद्वेग आदि का राज्य छा जाता है। कामायनी की काम-दृष्टि मानव मात्र को यह संदेश देती है कि यदि उसे अपने अस्तित्व का उचित उपभोग या उपयोग करना है तो उसे काम का स्वस्थ स्वरूप अपनाना पड़ेगा।

परिशिष्ट [२]

कामायनी में प्रेम-निरूपण

साहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा प्राचीनतम विषय प्रेम है। प्रेम-काव्यों का बीज भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही मिलता है लौकिक संस्कृत में आकर प्रेम कथाएँ दो रूपों में दिखाई पड़ती है। कुछ पौराणिक या ऐतिहासिक है तथा कुछ कल्पित। पौराणिक और ऐतिहासिक कथाएँ प्रबन्ध काव्यो या नाटको के रूप मे मिलती है। कल्पित कथा वाले प्रेम काव्य संस्कृत साहित्य की अलङ्कृत पद्धति मे दिखाई पड़ते है। संस्कृत भाषा में पद्य में ही नहीं वरन् अलङ्कृत गद्यशैली मे भी बहुत से प्रेम काव्य लिखे गये। जैसे—कादम्बरी, दशकुमार चरित, अवन्ति सुन्दरी आदि संस्कृत मे इन प्रेम काव्यो की परम्परा दसवीं शताब्दी तक चलती रही। इसके अनन्तर अपभ्रंश भाषाओं में प्रेम काव्य लिखे गये। हिन्दी मे प्रेम-काव्यो का उल्लेख वीरगाथा काल से ही मिलता है। वीर-गाथा काल के सभी वीर काव्यों का मुख्य विषय एक प्रकार से प्रेम ही रहा। देश प्रेम, स्वातन्त्र्य प्रेम या किसी सुन्दरी की प्राप्ति का प्रेम उनके युद्ध का मुख्य कारण था। वीर-गाथा काल के पश्चात् भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण प्रेम की धारा बही। इसके पश्चात् रीति-काल के लौकिक प्रेम की व्यञ्जना साहित्य की बँधी हुई अलङ्कृत शैली मे हुई। प्रेम काव्यों की परम्परा अब भी चल रही है। पर पहले से उसका स्वरूप धीर, संयत और गम्भीर है। आधुनिक युग के साकेत, प्रियप्रवास, कामायनी आदि महाकाव्य प्रेम काव्य ही तो है। हिन्दी प्रेम काव्यों के दो भेद किये जा सकते है। पहले वे जो शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य को लेकर लिखे गये। दूसरे

वे जो साहित्य के साथ-साथ साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रसार भी करना चहते थे। कहना नहीं होगा कि कामायनी का स्थान शुद्ध साहित्यिक प्रेम काव्यों के भीतर होगा।

वस्तुतः प्रसादजी प्रेम क कवि हैं। उनकी सभी रचनाओं मे प्रेम का सन्देश है। उनकी दृष्टि प्रेम क्षेत्र मे अत्यन्त व्यापक तथा विशद है। वे न भक्त कवियो के समान सदा ऊपर देखते हैं और न शृङ्गारिक कविया की भाँति सदा नीचे। उनके प्रेम पथ पर लौकिक तथा अलौकिक प्रेमी सदा साथ चलते हैं। आध्यात्मिक प्रेमी को लोक से विरत होने की आवश्यकता नहीं, उसे कवल अनुभूति-परिवतन की आवश्यकता है। प्रसादजी 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' वाले सिद्धान्त का नहीं मानते। उनकी दृष्टि म "सर्वं खल्विद ब्रह्म" है। अखिल विश्व शिव मय है, सभी सत्य है, सभी आनन्दमय है। शक्ति-रूप किरण राशि शिव रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है।

शैवागमो के अनुसार व 'शरीर त्व शम्भो', के अनुयायी थे। इसी लिए वे अपने व्यावहारिक जोवन मे सबको शिव मानने ही के कारण प्रभो कहकर नमस्कार करते थे। ईशोपनिषद् के "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" के अनुसार वे जगत् को ईश का प्रसाद समझकर अनासक्त दृष्टि से उसका सप्रेम भोग करना उचित समझते थे। उनकी दृष्टि मे जीवन की सार्थकता माया अथवा तत्प्रसूत जगत् के त्याग करने मे नही प्रत्युत उसके आलिंगन करने में है। प्रसादजी के यहाँ आध्यात्मिक तथा लौकिक प्रेम का वर्गीकरण नही है। उनके प्रेम के प्रत्येक स्वरूप मे आध्यात्मिकता है तथा पारमार्थिक प्रेम के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यावहारिकता। जिस प्रकार शिव तत्व और आत्मतत्व मे कोई अन्तर नही तद्वत् लौकिक तथा अलौकिक प्रेम मे कोई अन्तर नहीं है। केवल उपाधि भेद

के कारण दो भिन्न नाम आते हैं, मूलतः दोनों एक ही वस्तु है। एक आधार है तो दूसरा आधेय। दोनों का सम्बन्ध एक दूसरे की अभिव्यक्ति के लिए होता है।

लौकिक प्रेम अपने सर्वाङ्गीण रूप में कामायनी के अन्तर्गत आया है। सात्त्विक प्रेम श्रद्धा के चरित्र में, तामस प्रेम मनु के जीवन में तथा राजस प्रेम इडा के जीवन में दिखाया गया है। कामायनी में प्रसाद का प्रेम सिद्धान्त समझने के लिए श्रद्धा की बातों को सिद्धान्त रूप से ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं बता दिया है कि श्रद्धा का निर्माण महाकाव्य में प्रेम का सन्देश सुनाने के लिए हुआ है।—

> यह लीला जिसकी विकास चली,
> वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
> उसका सन्देश सुनाने को,
> संसृति में आई यह अमला॥

प्रसादजी सृष्टि-विकास की मूल शक्ति प्रेम मानते हैं और प्रेम की मूल भित्ति, श्रद्धा।

कामायनी का सात्त्विक प्रेम महाकाव्य में उसके व्यष्टि प्रेम, परिवारिक प्रेम तथा विश्व प्रेम के रूप में दिखाई देता है। श्रद्धा का व्यष्टि प्रेम दो हृदयों का एक हो जाना है जिसमें प्राप्ति की आकांक्षा नहीं, केवल उत्सर्ग ही उत्सर्ग है।

> पागल रे! वह मिलता है कब
> उसको तो देते ही हैं सब
> आँसू के कन कन से गिन कर॥
>
> (लहर)

प्रसाद का यह प्रेम, वासना को स्थान नहीं देता; आसक्ति या मोह की गन्ध नहीं रखता। सदा चेतना के प्रकाश से

प्रकाशित रहता है। उनका यह प्रेम कायिक सौन्दर्य या दृष्टिगत सौन्दर्य की भित्ति पर स्थिर नहीं है। क्योंकि ये सौन्दर्य को कायिक या दृष्टिगत नहीं मानते वरन् चेतना का प्रसाद मानते हैं।

उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं। (कामायनी)

प्रसादजी कायिक प्रेम को बर्बरता की निशानी मानते हैं। क्योंकि कायिक प्रेम क्षणिक और नश्वर होता है, कायिक सौन्दर्य के नष्ट होते ही वह भी नष्ट हो जाता है। प्रसाद का व्यष्टि प्रेम जीवन और मृत्यु से परे है।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसकाती खड़ी अमरता।
वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन में।
(आँसू)

यह प्रेम भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के अनुकूल है। हिन्दू संस्कृति की दृष्टि से वैवाहिक प्रेम एक ऐसा पुनीत असाधारण बन्धन है जिससे मुक्ति भारतीय नारी मृत्यु के अनन्तर शरीरान्तर में भी नहीं चाहती। भारतीय दृष्टि से व्यष्टि प्रेम एक ऐसा सम्बन्ध सूत्र है जिसके द्वारा एक अनेक में बँधता हुआ सदा अभेदत्व की ओर बढ़ता रहता है। श्रद्धा प्रेमिका के रूप में करुणा तथा वीर-पूजा का भाव लिये हुए मनु के ऊपर रीझती है। मनु के उद्भ्रांत, क्लान्त, निरुपाय, निश्चेष्ट तथा असहाय जीवन को देखकर श्रद्धा की करुणा कादम्बिनी विह्वल हो बरस पड़ती है, दुख से जली हुई मनु की संसृति प्रमुदित हो जाती है।

चर तथा अचर में प्रेम, आशा तथा उल्लास छा जाता है। श्रद्धा घने प्रेम तरु की विश्वास रूपी छाया में करुणा-कलित नारी हृदय की निधियाँ —सेवा, दया, माया, ममता, मधुरिमा आदि लुटा देती है। प्रसादजी ने श्रद्धा के इस आत्म-समर्पण द्वारा यह दिखाया है कि नारी हृदय के लिए परार्थ ही सबसे बड़ा स्वार्थ है। नारी हृदय ही वस्तुतः प्रेम का अधिकारी है। वही प्रेम की वेदना को पूर्णतः अनुभव कर सकता है। पुरुष का विकल्प प्रधान पुरुष-जीवन प्रेम के अन्तराल में पूर्णतः प्रवेश नहीं कर सकता। पुरुष, विजय तथा तत्त्व का भूखा होता है, नारी समर्पण की। पुरुष लूटना चाहता है, स्त्री लुट जाना। पुरुष में जिगीषा है और स्त्री में बलिदान। भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रेम पक्ष में नारी को प्रधानता प्राप्त है। इसलिये प्रेम का प्रस्ताव नारी की ओर से प्रथम आना चाहिये। नर का प्रथम प्रस्ताव करना पतन की अवस्था का द्योतक है। वीर-पूजक भारत वासियों के यहाँ नारी के प्रथम रीझने में लोकवाद की भावना निहित है, विलासिता या कामुकता नहीं। श्रद्धा के रीझने में यही भारतीय भावना दिखाई पड़ती है। प्रसादजी का प्रेम-तरुवर करुणा की भूमिका में अधिक प्रफुल्लित होता है। प्रेम को पनपने के लिए करुणा ऐसा वातावरण तैयार करती है जिसमें उसे अनुकूल भोजन मिलता है। करुणा एक ऐसा भाव है जिसके भीतर उत्सर्ग, सेवा, दया, दान, कृपा, पुरस्कार या प्रत्यावर्तन की अनिच्छा आदि अनेक भाव अन्तर्निहित है। करुणा करने वाला जितनी देर तक करुणा करता है उतनी देर तक करुणा किये जाने वाले व्यक्ति से अभेदत्व स्थापित कर लेता है; अपने को उसकी भूमिका में प्रतिष्ठित कर देता है; दूसरे की सेवा या सहायता को परायी सेवा या सहायता नहीं समझता, उसे

अपनी ही सुख-संसृति मानता है। यही भाव जब अधिक विस्तृत हो जाता है तो द्वयता का भेद नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व अपना नीड सा बन जाता है। सब पहचानने से लगते हैं। करुणा से पलित व्यक्ति में करुणा करनेवाले के प्रति स्वार्थ-सम्पृक्त प्रेम की सम्भावना हो सकती है। कुछ हद तक चेतन मन इस सीमा के भीतर आ सकता है, किन्तु उसका अचेतन मन, जो उसके चेतन मन से अधिक प्रौढ तथा बलिष्ठ है उसके करुणा-जनित शील, सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, रीझ जाता है। इस प्रकार करुणा, प्रेम की तीनो सीढियाँ—शक्ति, शील तथा सौन्दर्य तैयार करती है। इसी लिये प्रसादजी शक्ति, शील तथा सौन्दर्य का नाम न लेकर प्रेम-साधना के जगत् मे करुणा का ही नाम लेते है। श्रद्धा और मनु के प्रेमाङ्कुर को प्रस्फुटित करने के लिए उन्होने सबसे पहले करुणा का क्षेत्र तैयार किया। प्रथम, श्रद्धा को कवि ने विश्व की करुणा-कामना—मूर्ति के रूप मे उपस्थित किया।

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुणा-कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ मे स्फूर्ति।

दूसरे, मनु को निरुपाय, असहाय, अधीर, चिन्तित, क्रन्दित दिखाकर कवि ने इन्हे करुणा का उचित पात्र बनाया। करुणा के इसी विस्तृत राज्य मे श्रद्धा का प्रेम पल्लवित होता है।

मनु, श्रद्धा मे अपने हृदय-निहित-सौन्दर्य-प्रतिमा का दर्शन करके मुग्ध हो जाते है। श्रद्धा का स्वर्गीय सौन्दर्य मनु को स्तब्ध कर देता है। मनु दर्शक के रूप में सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए मन ही मन श्रद्धा के रूप माधुर्य की प्रशसा करते हैं। यहाँ प्रेम को घनीभूत करनेवाले तीनों प्रकार के सौन्दय—दृष्टिगत-सौन्दर्य,

शीलगत—सौन्दर्य तथा मानसिक सौन्दर्य एक साथ जुट जाते हैं।

आकर्षण के पश्चात् जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः दोनों एक दूसरे का परिचय प्राप्त कर अपनी जिज्ञासा दूर करते हैं। दर्शन की सुगमता से मनु का खिंचाव श्रद्धा की ओर बढता जाता है अनुराग पनपता जाता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का अन्तिम फल विवाह है, जिसको श्रद्धा और मनु अपने प्रेम के अन्तिम फल के रूप मे प्राप्त करते है। कामायनी मे प्रेम का विकास, अवसर के अनुकूल तथा मानव—परिधि के अन्तर्गत हुआ है। संस्कृत साहित्य के प्रेम काव्यो मे सयोग की अभिव्यक्ति गुण-श्रवण, चित्र दर्शन आदि की बँधी परिपाटी मे हुई है। प्रसादजी ने संयोग-वर्णन कही भी बँधी परिपाटी से नही किया है। कामायनी का सयोग-वर्णन अत्यन्त शिष्ट तथा सयत है। शारीरिक अनुभवों की व्यञ्जना बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से हुई है। प्रेमोद्दीपक परिस्थितियों का आयोजन बड़े रमणीय ढङ्ग से हुआ है। चन्द्रिका-चर्चित यामिनी में सृष्टि हँस रही है, विधु-किरण मधु बरस रही है, सुमन पराग उडेल रहा है, पवन मन्थर गति से चल रहा है ऐसी मधुर स्थिति मे श्रद्धा और मनु का मिलन होता है। यह मिलन केवल नारी और पुरुष का मिलन नहीं वरन् शिव और शक्ति का, प्रकृति और पुरुष का, तथा दुःख और सुख का मिलन है।

जब श्रद्धा, शारीरिक मिलन से संतुष्ट न होकर मनु की आत्मा से मिलना चाहती है तब सन्तान की उत्पत्ति होती है। मनु केवल वासना की अबाध-तृप्ति चाहते है। वे आत्ममिलन या सन्तान-इच्छा से श्रद्धा से नही मिले थे। अन्यथा वे मानव के प्रति श्रद्धा के प्यार को देख ईर्ष्यालु न होते। सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् श्रद्धा में वह बेचैनी, वह उद्वेग, आलिङ्गन की वह

व्याकुलता, प्रेम की वे कुशल सूक्तियाँ, वह उल्लास, जो पूर्व राग के समय था, अब नहीं है। अब उसके जीवन मे शान्ति है, सन्तोष है। परन्तु यह अवस्था स्नेह की कमी के कारण नहीं, जैसा कि मनु समझते है, प्रत्युत प्रेम की पूर्णता तथा परिपक्वता के परिणाम स्वरूप है। उसे अपने प्रिय के स्वकीय होने का विश्वास है। पूर्व राग के समय इसी विश्वास को अधिक दृढ़-तर बनाने के लिए उद्वेग, व्याकुलता तथा अधीरता की आवश्यकता थी। यदि वह विकलता तथा उद्वेग सदा समान मात्रा मे प्रेमियों मे उपस्थित रहे तो प्रेमी और प्रिय का जीवन बिताना कठिन हो जाय, और वे सर्वदा एक दूसरे की शुश्रूषा के अतिरिक्त लोक-जीवन के लिए व्यर्थ हो जायँ। श्रद्धा का प्रेम उसे कभी कर्तव्य विहीन नही बनाता। वह प्रेम के उन्माद मे कभी सज्ञाशून्य नही होती। आज भी यदि प्रिय उसका कष्ट मे है तो वह दुखी है। मृगया खेल कर लौटने मे मनु के विलम्ब करने पर वह व्याकुल है .—

"पश्चिम की रागमयी सध्या
अब काली है हो, चली किन्तु
अब तक आये न अहेरी वे
क्या दूर ले गया चपल जन्तु।"
"यों सोच रही मन मे अपने
हाथो मे तकली रही घूम।
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी हो चली
अलकें लेती थीं गुल्फ चूम।"
(ईर्ष्या सर्ग)

गर्भावस्था मे जब श्रद्धा का प्रथम सौन्दर्य कम हो गया, उसका शरीर पीला हो गया, जब उसके रंग, रूप, आकृति, हाव,

भाव आदि जिनके कारण मनु, उसकी ओर आकर्षित हुए थे कम हो गए तो उनका प्रेम भी घटने लगा क्योंकि मनु का प्रेम कायिक था, वासना की गन्ध से भरा था तथा स्वार्थ से सना था :—

"मनु ने देखा जब श्रद्धा का
वह सहज खेद से भरा रूप।
अपनी इच्छा का दृढ़ विरोध,
जिसमें वे भाव नही अनूप।
वे कुछ भी बोले नहीं, रहे
चुप चाप देखते साधिकार।"

श्रद्धा मनु के भावों को समझ गई। उसे अवगत हो गया कि मनु का प्रेम उसके प्रति घट रहा है।

श्रद्धा कुछ कुछ मुसुकरा उठी,
ज्यो जान गयी उनका विचार।

परन्तु मनु का प्रेम कम होने पर भी श्रद्धा का प्रेम कम नहीं होता क्योंकि उसके प्रेम का सिद्धान्त विनिमय नहीं है, लेन देन नही है, प्रेम की वणिग्वृत्ति नही है, वहाँ तो आत्मा का चिर मिलन हो गया है। इसी कारण तो श्रद्धा, प्रेम क्षेत्र मे परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा नही करती :—

विनिमय प्राणों का यह कितना भय सकुल व्यापार अरे।
देना हो जितना दे दे तू लेना! कोई यह न करे।
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी नहीं हो सकती।
सध्या रवि दे कर पाती है इधर उधर उडुगन बिखरे॥

क्योंकि श्रद्धा समर्पण करते समय यह कह चुकी है :—

इस अर्पण मे कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग झलकता है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।

श्रद्धा के उपर्युक्त वचनों से प्रसादजी का प्रेम-तत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रेम का लौकिक पक्ष इतना दिव्य, इतना उच्च, इतना विशद है कि वह स्वय अलौकिक हो गया है। इसी को सच्चा निष्काम प्रेम कहते हैं। इसमे न कोई चाह है, न कोई आशा। यहाँ केवल देना ही देना है, लेना कुछ नहीं। प्रिय की उपेक्षा, उदासीनता, अपमान सहने पर, किम्बहुना प्रिय द्वारा त्यागे जाने पर भी प्रेमी का प्रेम कम नही होता। वस्तुत ऐसे ही प्रेम की पवित्र भूमि मे पाप भी पुण्य हो जाता है, वेदना में मधुरता आ जाती है, जीवन की पीडाये सुमन सी हँसने लगती है. आत्मा मे अमर ज्योति उत्पन्न हो जाती है, चेतना मे विस्फार आ जाता है, जीवन मे नव जागरण छा जाता है, सर्वत्र शिवत्व का दर्शन होने लगता है, आनन्द का अखण्ड लोक अपने चारो ओर फैला हुआ दिखाई देने लगता है, जैसा कि श्रद्धा के जीवन मे हुआ।

प्रेम ही गार्हस्थ-सुख का प्रधान साधन है। इसके अभाव म सारी सम्पत्ति, सम्पूर्ण ऐश्वर्य तथा सन्तति-सुख रहने पर भी आनन्द तथा शान्ति नही मिलती, अहर्निश देवासुर सग्राम मचा रहता है, गृहस्थी नरक तुल्य बन जाती है। प्रसादजी ने श्रद्धा के कौटुम्बिक प्रेम द्वारा यह बतलाया है कि पारिवारिक सुख प्राप्त करने का प्रधान साधन, क्षमा तथा सहनशीलता युक्त प्रेम है। कौटुम्बिक जीवन मे जो व्यक्ति दूसरों की छोटी-छोटी बातो पर चिढ जाता है या तुच्छ त्रुटियों पर अप्रसन्न हो जाता है या जो अपने

सम्बन्धियों से भी प्रतिकार या प्रतिशोध लेना चाहता है तथा जो अपने आत्मीय जनों को साधारण अपराधों या दोषों पर दण्ड देना चाहता है; वह कभी पारिवारिक जीवन का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता। मनु का जीवन कुछ इसी प्रकार का है, इसलिए उन्हे कौटुम्बिक जीवन का सच्चा सुख कभी नहीं मिला। श्रद्धा अपने पारिवारिक जीवन में मनु के दोषों को क्षमा कर, उनकी त्रुटियों की उपेक्षा कर, उनके अपराधों को सहन कर सदा अपना व्यवहार अच्छा बनाये रखने का प्रयत्न करती है इसलिए वह सदा आनन्दित रहती है।

दाम्पत्य जीवन का सच्चा सुख पुरुष को स्त्री-भक्ति या स्त्री का गुलाम बनने से नहीं मिलता। युवती स्त्री का प्रेम पाने के लिए पुरुष मे पूर्णता की आवश्यकता है; कामुक या विलासी बनने की नहीं। जिस पुरुष में शक्ति, शील तथा सौन्दर्य की जितनी ही अधिक पूर्णता होगी वह उतना ही अधिक नारी का प्रेम प्राप्त करने मे सफल होगा। जो पुरुष स्त्री की स्वाभाविक वासना को पहचान कर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, उसी पर स्त्री रीझती है, उसी को दाम्पत्य जीवन का सच्चा सुख मिलता है; मनु जैसे विलासी पुरुष को दाम्पत्य जीवन का सुख कभी नहीं मिल सकता।

पुरुष-स्त्री का वास्तविक मिलन सन्तति द्वारा ही होता है। इसके पहले का मिलन तो केवल शारीरिक होता है। सन्तति एक ऐसी उभयनिष्ठ वस्तु है जहाँ दोनों, शरीर से ही नहीं वरन् आत्मा से मिलते है। पुरुष-स्त्री मे वास्तविक अभेदत्व स्थापित करने का श्रेय सन्तति को ही है। सन्तति वस्तुतः दोनों की निराकार आत्माओं का चिरमिलित साकार रूप है, दोनों के प्रेम के चरम-विकास की पूर्ण प्रतिमा है, इसी लिए हमारे यहाँ गृहस्थी की

पूर्णता सन्तति में मानी गई है। सन्तति रहते हुए भी वात्सल्य के अभाव में मनु, श्रद्धा से आत्मरूप मे न मिल सके, उससे अभेदत्व स्थापित न कर सके, उसका सत्स्वरूप न समझ सके, गृहस्थी की पूर्णता प्राप्त न कर सके तथा उन्हे दर दर भटकना पडा और जब तक वात्सल्य पैदा नहीं हुआ तब तक उनके कल्याण का पथ अवरुद्ध रहा। सन्तति होने पर जिस पुरुष में जितना ही अधिक पितृत्व होगा, जितना ही अधिक वात्सल्य होगा उस पर उसकी स्त्री उतना ही अधिक रीझेगी, वह उतना ही अधिक स्त्री के स्वरूप को समझ सकेगा, उसके प्रेम को उतना ही अधिक प्राप्त कर सकेगा। जब श्रद्धा 'मानव' को इड़ा के पास सौंपकर मनु को दूसरी बार खोजते-खोजते पा जाती है, तब मानव की अनुपस्थिति मे मनु के हृदय मे वात्सल्य प्रेम जगता है। वे मानव के लिए व्याकुल होकर तडपने लगते है। वात्सल्य प्रेम जगते ही मनु को शिव के रूप मे श्रद्धा का दर्शन होता है। यहाँ शिव दर्शन द्वारा प्रसादजी ने बताया है कि वात्सल्य प्रेम एक ऐसी दिव्य ज्योति है जिसके द्वारा मंगलमयी नारी का मंगलमय रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

प्रसाद का प्रेम उत्तरोत्तर विकास-शील पथ पर चलता है। वह सान्त से अनन्त की ओर, ससीम से असीम की ओर, व्यष्टि से समष्टि की ओर, निरन्तर विकसित होता रहता है। उसमें सर्वभूतहित की अपरिवर्तनीय इच्छा, आत्मा का अमित विस्तार, हृदय की विशालता, त्याग का उच्च मानसिक भूमि प्रतिष्ठित है। इस पवित्र प्रेम की उच्च भूमि मे व्यष्टि प्रेम भी इतना विशाल तथा विशद क्षेत्र रखता है कि इसमे कही भी मानसिक सकोच, हृदय-दौर्बल्य या आत्मिक सकीर्णता का स्थान नही। श्रद्धा मनु से अनन्य प्रेम रखते हुए भी विश्व के अन्य प्राणियों से

सम्बन्ध विच्छेद नही करती। वह मनु से अनन्य प्रेम करते हुए भी सर्वभूतहित की उपासना मे कभी नहीं चूकती, एक व्यक्ति से प्रेम करते हुए भी अपने हृदय को ससीम नही बनाती। उसका व्यष्टि प्रेम उसे समष्टि प्रेम से अलग नही करता प्रत्युत उसी ओर अग्रसर करता है। प्रसाद का शुद्ध सात्त्विक प्रेम, चाहे व्यष्टि गत हो या समष्टिगत, सदा हृदय को विकसित करता है, चेतना को विशद बनाता है, मन मे उच्चता तथा पवित्रता लाता है, आत्मा मे अमर ज्योति भरता है।

प्रसादजी व्यष्टि प्रेम तथा कौटुम्बिक प्रेम को विश्व प्रेम की सीढी मानते है। व्यक्ति, व्यष्टि प्रेम से ही अपने स्व से बाहर निकलना प्रारम्भ करता है, उसका त्याग, पर के लिए बढने लगता है, उसका आत्म-विस्तार शनै शनै विकसित होने लगता है। इस प्रकार आत्म-विस्तार करते करते अन्ततोगत्वा व्यक्ति सपूर्ण विश्व को कुटुम्बवत् देखने लगता है, निज और पर का भेद मिट जाता है, सारी वसुधा उसकी नीड बन जाती है। श्रद्धा मे विश्व-प्रेम इसी प्रकार विकसित हुआ है। श्रद्धा, प्रथम मनु से अनन्य प्रेम करती है। उनके लिए अपने हृदय की सारी निधियाँ लुटा देता है। अपना सम्पूर्ण स्व उनके ऊपर उत्सर्ग कर देती है। मनु के प्रति उसका प्रेम, अन्य जीवों से प्रेम एव दया करने मे साधक होता है, वाधक नहीं। तभी तो वह पशु की हिंसा पर मनु से रूठ जाती है, निरीह पशुओं का शिकार करने से मनु को रोकती है। श्रद्धा का हृदय इतना उदार, तथा उसकी चेतना इतनी विशाल बन गई है कि वह अपने सुहाग छीनने का कारण बननेवाली इडा से भी ईर्ष्या नहीं करती। ऐसे अवसर पर 'पदमावत' में पदमावती और नागमती मे असूया का भाव उत्पन्न हो जाता किन्तु श्रद्धा और इडा मे नहीं। इडा अपने को श्रद्धा का सुहाग

छीनने का कारण समझकर मलिन तथा उदास पड़ जाती है, परन्तु श्रद्धा का विशाल हृदय उसे क्षमा कर कैसा सुन्दर आश्वासन देता है :—

बोली "तुमसे कैसी विरक्ति,
तुम जीवन की अंधानुरक्ति;
मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन
देकर, तुमने रक्खा जीवन।"

श्रद्धा के अनन्य प्रेम में मोह या ममता कभी उसे कर्त्तव्यपथ से च्युत नहीं करती। वह राष्ट्र-कल्याण के लिए अपने इकलौते पुत्र मानव को सारस्वत प्रदेश में इड़ा के पास छोड़ने में तनिक भी मोह या दुःख नहीं करती। श्रद्धा की इस विश्व मूर्ति को देखकर मनु स्वयं कह उठते हैं :—

"कुछ उन्नत थे वे शैल-शिखर,
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर।
वह लोक अग्नि में तप गल कर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बनकर।
मनु ने देखा कितना विचित्र,
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र॥"

श्रद्धा की इस मङ्गलमयी विश्व-मूर्ति का दर्शन कर मनु में भी विश्व-पिता का भाव जग जाता है, अज्ञान-आवरण खुल जाता है, व्यष्टि भाव दूर हो जाता है, वे परम प्रेम की ज्योति में जड़ चेतन, सुख-दुःख, पाप-पुण्य को एकाकार होते हुए देखते हैं। वे अपने को समष्टि में लीन करने के लिए श्रद्धा से उस परम प्रेम तक ले चलने को कहते हैं :—

"श्रद्धे !! बस तू ले चल !
उन चरणों तक दे निज सम्बल।

सब पाप पुण्य जिसमे जल जल,
पावन बन जाते है निर्मल।
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।"

परम प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रसादजी नारी को सम्बल रूप में मानते है, बाधा रूप मे नही। इनके यहाँ नारी, नर को अध्यात्म प्रेम से च्युत नही करती प्रत्युत, उसका हाथ पकड़कर उस पथ पर ले चलती है। नारी को अध्यात्म-पथ मे बाधा माननेवाले भक्त कवियो ने केवल उसे कामिनी रूप मे देखा एवं वासना तृप्ति का केवल प्याला समझा। उसकी मगलमयी, लोक-सेवी शक्तिस्वरूपा विश्वमूर्ति पर ध्यान नही दिया। प्रसाद की नारी सर्जना सक्ति की प्रतीक है, लोक मगल की प्रतिमा है। वह अपने लिए नही प्रत्युत दूसरो के लिए विश्व की रङ्गभूमि मे आई है। उसके जीवन का प्रत्येक श्वास, अपना नही पराया है। परार्थ ही उसका सबसे बड़ा स्वार्थ है। स्वभाव तथा जन्म से उसमे लोक धर्म अधिक है। उसका वात्सल्य जननी रूप सदैव सजग रहता है। वह किसी भी परिस्थिति मे अपने मातृत्व को नही भूलती। उसका प्रेम धरणी के समान क्षमा-शील आकाश के समान उच्च तथा निर्मल एवं समुद्र के समान गम्भीर है, वह जरा मरण रहित है। वह लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। वह असीम-अमोघ शक्ति से भरा है क्योकि वह सदा निष्काम तथा निःस्वार्थ रहता है। इसी पावन-प्रेम के आधार पर परम-प्रेम की कल्पना की गई है। उसका यह पावन प्रेम ही व्यष्टि तथा समष्टि के मङ्गल का हेतु है। भला ऐसी नारी को त्याग नर का उद्धार कहाँ हो सकता है। ऐसी ही नारी, (श्रद्धा) की प्रेम ज्योति से मनु का अज्ञान

पटल खुला, उन्हे अमर ज्योति का दर्शन हुआ, उनकी भेद बुद्धि नष्ट हुई, स्वार्थ तथा स्वायत्त की भावना दूर हुई ।

प्रसादजी की दृष्टि में प्रेम स्वच्छन्द हो सकता है बन्धन रहित हो सकता है, परन्तु नियमों मे स्वच्छन्दता नही आनी चाहिए। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों के कल्याण के लिए स्वच्छन्द प्रेम मे भी मर्यादा तथा सामाजिक नियमो का पालन आवश्यक है। प्रेम की स्वच्छन्दता के साथ नियमो मे स्वच्छन्द होने पर व्यक्ति में उच्छृ खलता तथा समाज में विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है। परिणाम स्वरूप ऐसे प्रेमियो के चारों ओर घोर सघर्ष, विप्लव तथा अशान्ति छा जाती है। मनु सारस्वत प्रदेश मे जाकर प्रेम की स्वच्छन्दता के साथ-साथ नियमो मे स्वच्छन्द बनना चाहते है, सामाजिक मर्यादा तथा जीवन सिद्धान्तो की उपेक्षा करते है। परिणाम स्वरूप उनके विरुद्ध एक घोर विप्लव उत्पन्न होता है।

कायिक या भौतिक प्रेमी, मानव जीवन का कोई महान् उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकता। जीवन मे महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए आध्यात्मिक या आत्मिक प्रेम की आवश्यकता है, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति किसी उद्देश्य या ध्येय से अभेदत्व स्थापित नहीं करेगा तब तक वह सिद्ध नही हो सकता और अभेदत्व स्थापित करने के लिए आत्मिक प्रेम की आवश्यकता है, कायिक या भौतिक प्रेम की नही। मनु कायिक या भौतिक प्रेमी होने के कारण राष्ट्र (सारस्वत प्रदेश) के साथ अभेदत्व स्थापित न कर सके। अतः वे राष्ट्र—कल्याण मे असफल रहे। श्रद्धा आत्मिक या आध्यात्मिक प्रेमी होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ अभेदत्व स्थापित करने में सफल हुई तभी तो वह अपने इकलौते पुत्र मानव को राष्ट्र-कल्याणार्थ वहाँ छोड़ने मे तनिक भी नहीं हिचकती। प्रसाद का आध्यात्मिक प्रेम, कहीं भी केवल व्यक्ति की आनन्द

साधन के लिए नही होता। प्रसाद के आध्यात्मिक प्रेम समाज से तटस्थ रहते हुए भी समाज से सम्पर्क रखते है, समाज से दूर रहते हुए भी समाज का कल्याण करते हे तथा समाज के सन्यस्त होते हुए भी समाज से उपकारी सिद्ध होते है। जब श्रद्धा और मनु समाज से सन्यस्त होकर तपोवन मे आध्यात्मिक साधना मे लीन होते है, तब भी तीर्थयात्री उस तपोवन मे जाकर उनके दर्शन से अपना पाप मोचन करते हैं तथा उनके अमृतोपम उपदेश से अमर ज्योति प्राप्त करते है।

प्रेम का वास्तविक क्षेत्र हृदय है, बुद्धि नही। जो हृदय-क्षेत्र जोड़कर, बुद्धि-क्षेत्र मे प्रेम पल्लवित करना, चाहेगा उसे मनु की तरह पग-पग पर ठोकरे खाना पड़ेगा। तर्क के, बुद्धि के या बनावटी नियमो के राज्य म प्रेम पनप नही सकता। मनु, श्रद्धा (हृदय) का राज्य छोड इड़ा (बुद्धि) के क्षेत्र मे प्रेम को तृप्ति करना चाहते है। परिणाम स्वरूप उन्हे असफलता, सघर्ष विप्लव, युद्ध, अशान्ति का सामना करना पड़ता है और जब तक हृदय (श्रद्धा) के समीप नही जाते तब तक उन्हे शान्ति नही मिलती। हृदय (श्रद्धा) को ठुकराने का यह उचित बदला मनु को मिला।

श्रद्धा के यहाँ से मनु का भागना सच्चे प्रेम के क्षेत्र से, वासना, स्वार्थ, स्वायत्त, अहमहमिका आदि अनात्मिक वृत्तियो का भागना है। प्रेम मे शिवत्व तभी आता है जब उसका आधार शरीर नही वरन् आत्मा हो जाता है। जब तक मनु के प्रेम का आधार शरीर रहा तब तक उन्हे शिवत्व (मगल तत्त्व) कही नही मिला। ज्योंही उनके प्रेम का आधार आत्मा हो जाता है, ज्योंही वे श्रद्धा से आत्मिक रूप से मिलते है, त्योंही उन्हे शिव का साक्षात् दर्शन चारो ओर होने लगता है। कवि ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि प्रेम का सच्चा रूप आत्मिक है, शारीरिक नहीं। उसके प्राप्त

करने पर चारो ओर मगल तथा आनन्द का दर्शन होने लगता है, पुण्य, पाप से, गुण, अवगुण से तथा प्रकाश, अन्धकार से मिलकर एक हो जाते है, सब पहचाने से लगते है, तथा मानव चेतना निर्विकार होकर हँसने लगती है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य परम प्रेम आनन्द धाम तक पहुँचना है। परम प्रेम आनन्द धाम तक पहुँचने का एक मात्र साधन, शुद्ध सात्त्विक प्रेम है। प्रेम के इस परम लक्ष्य को प्रसादजी ने अपनी प्रारम्भिक रचना 'प्रेम पथिक' मे स्पष्ट कर दिया था।

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन मे टिक रहना।
किन्तु चले जाना उस हद तक जिसके आगे राह नही॥"

कहने की आवश्यकता नही कि प्रसादजी कामायनी मे अपने उक्त निर्दिष्ट गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये है।



परिशिष्ट [३]

कामायनी में कर्म का स्वरूप

कामायनी के दार्शनिक सिद्धान्त की व्यावहारिकता स्पष्ट करने के लिए उसके कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। महाकाव्य में जीवन की पूर्णता के लिए सत्-असत उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य तथा राम-रावण दोनों पक्ष दिखाया जाना अपेक्षित है, हाँ आवश्यकता इस बात की है कि सदाचार की रक्षा के लिए उनका उचित परिणाम दिखाया जाय। महाकाव्य ही नहीं वरन् सभी प्रकार के काव्यो का साध्य विषय सत् की विजय तथा असत् की पराजय दिखाना होता है जिससे पाठकों के हृदय मे सत् के प्रति प्रेम तथा असत् के प्रति घृणा उत्पन्न हो। महाकाव्य में किसी समस्या का समाधान या सिद्धान्त का प्रतिपादन, कवि का मूल उद्देश्य रहता है। किसी भी समस्या का समाधान या सिद्धान्त का प्रतिपादन तभी प्रौढ तथा स्पष्ट होता है, जब उसके पक्ष-विपक्ष दोनों स्वरूपों का सम्यक् विवेचन, उचित परिणाम सहित दिखाया जाय। इस सिद्धान्त का पालन प्राचीन काल से सत्साहित्य मे होता आया है और आगे भी होना आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने कामायनी में कर्म के सत्-असत् दोना स्वरूपों पर बराबर ध्यान रखा है और उनका उचित परिणाम दिखाया है। देवसृष्टि मे देवताओं का कर्म असत् रहा। वे दम्भी, अहकारी तथा विलासी थे अतः उनका सर्वनाश हुआ। मनु का कर्म जहाँ जहाँ असत् या अनुचित रहा वहाँ वहाँ उन्हे हार खानी पड़ी, कष्ट उठाना पड़ा तथा पतन की ओर जाना पड़ा। श्रद्धा सदा सत्कर्म-परायणा

रही, अतः उसका पतन कही नही हुआ, उसे कही हार नही खानी पडी, आनन्द ने उसका साथ कभी नही छोडा।

वस्तुतः कामायनी मे प्रसादजी के कर्म की वस्तुस्थिति न बाह्य त्याग या सकोच मे है और न बाह्य उत्तेजना या उपभोग मे। वे निवृत्तिमूलक तप या साधना को केवल जीवन—सत्य नही मानते प्रत्युत उसे जीवन का करुण क्षणिक दीन अवसाद मानते है—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य।
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।"

वह तप जिसमे अन्तर्मुखी त्याग नही, जिसमे आत्म विस्तार नही, वह दीनो तथा कायरो का त्याग है क्योकि वे इतने वीर नही है कि समाज के समक्ष विश्व की रगस्थली मे अपनी प्रभुता दिखाते हुए षड्रिपुओ का सामना कर सके। इसलिए वे सामाजिक समराङ्गण से भागकर विश्व से बहुत दूर किसी जगल के कोने मे ऐकान्तिक साधना की शरण लेते है, जहाँ षड्रिपुओ के आगमन की कोई सभावना ही नही है। इस ऐकान्तिक साधना या निवृत्ति-मूलक तप से यदि कुछ लाभ या मगल हो सकता है तो व्यक्ति का ही, समाज का नहीं। इसमे व्यक्ति, सब कुछ अपने लिए सग्रह करता है, समाज को कुछ नहीं देता। प्रसादजी के लिए वह कर्म, जिसमे लेना ही साध्य हो—शवता है, मृत्यु है, जीवन नहीं। जिस कर्म द्वारा विश्व की मगल-वृद्धि मे कुछ सहयोग मिले वही सत्कर्म है, वही जीवन है, वही उज्ज्वल स्वस्थ मानवता है'—

"मनु क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्वल नव मानवता।

जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हन्त बची हो शवता।"

प्रसादजी के कर्म की सीमा व्यष्टि से सीमित नहीं वह समष्टि तक व्याप्त है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति अपने कर्मों की सीमा अपने ही तक रखकर, न अपना विकास कर सकता है और न समाज का :—

"अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।"

प्रसादजी यह भली-भाँति जानते हैं कि यदि व्यक्ति सामाजिक न हुआ होता, यदि उसका कर्म सामाजिक मंगल की दृष्टि से न हुआ होता तो वह आज साम्प्रत विकास को न पहुँचा होता। सामाजिक विकास की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति को भी अपने विकास के लिए सामाजिक बनना पड़ेगा तथा ज्ञात या अज्ञात रूप से उसे अपने कर्मों को सामाजिक मंगल की ओर उन्मुख करना पड़ेगा :—

"सुख समीर पाकर चाहे हो,
वह एकान्त तुम्हारा।
बढ़ती है सीमा संसृति की,
बन मानवता धारा।"

प्रसादजी निवृत्तिमूलक ऐकान्तिक साधना करनेवाले व्यक्ति को भी निर्जन या एकाकी अवस्था में नहीं रहने देना चाहते, उसे समाज के बीच बिठाना चाहते हैं क्योंकि उसके तप का मौन प्रभाव दूसरों पर अच्छा पड़ेगा तथा उसके दर्शन से दूसरों की भावनाएँ पवित्र होंगी :—

"निर्जन में क्या एक अकेले,
तुम्हे प्रमोद मिलेगा।
नही इसी से अन्य हृदय का,
कोई सुमन खिलेगा।।"

यदि ज्ञात या अज्ञात किसी भी प्रकार से व्यक्ति अपने कार्यों को लोक मगल की ओर उन्मुख नहीं करता, तो वह समाज, जिसको उसने अपने स्वार्थ या विकास का साधन बनाया है, उसका घोर विरोध करेगा चाहे वह मनु जैसा नियामक ही क्यों न हो। जब मनु ने उच्छृङ्खल विलासोन्मद-वासना-तृप्ति के वश मे लोक-मर्यादा एव सामाजिक मगल की उपेक्षा की तथा प्रकृति विपर्यय-जन्य पीडा से प्रजा की रक्षा नहीं की, तो सम्पूर्ण प्रजा ने उनके विरुद्ध घोर विप्लव तथा युद्ध किया।

जब तक कर्म निष्काम नही होगा, कर्म से वासना का सहार नही होगा, तब तक स्वस्थ मानवता का दर्शन नही हो सकता। अत. कर्म उपभोग की वस्तु नहीं वरन् त्याग और सेवा की वस्तु है। इसी बात को श्रद्धा ने कर्म सर्ग मे मनु को अच्छी तरह समझाया है, जब वे कर्म का भ्रान्त अर्थ-इन्द्रिय-सुख-साधन, स्वार्थ उपभोग आदि मान रहे थे—

"रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह,
यज्ञ-पुरुष का जो है।
संसृति सेवा भाग हमारा,
उसे विकसने को है।"

किसी प्रकार भी किसी की हिंसा करके वैयक्तिक उन्नति करना या सुख प्राप्त करना सत्कर्म नही है। दूसरों को सुख पहुँचाना, दूसरों के सुख से सुखी तथा दुःख से दुखी होना ही सत्कर्म है—

"औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ ।।"

प्रसाद के कर्म का अर्थ इन्द्रिय-सुख नहीं, स्वार्थ-साधन नहीं, हिंसा नहीं, काम्य यज्ञ नहीं, दुनिया के गोरखधन्धे नहीं, शोषण या शासन नहीं, शक्ति-प्रदर्शन या बुद्धि नहीं। उनके कर्म का अर्थ परोपकार, पर सेवा, पर-पीडा-नाश, दान, त्याग तथा आत्मविस्तार है। इसे श्रद्धा ने कलियों का उदाहरण लेकर भ्रान्त मनु को विस्तार से समझाया है—

"ये मुद्रित कलियाँ दल मे सब
सौरभ बन्दी कर ले।
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुलकर तो ये मर ले।।
सूखे, झड़े और तब कुचले
सौरभ को पाओगे।
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।
सुख अपने सन्तोष के लिए
संग्रह मूल नहीं है।"

× × ×

"सुख को सीमित कर अपने मे
केवल दुख छोड़ोगे।
इतर प्राणियों की पीडा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।"

वसुधा पर आमोद-रूपी आनन्द की सृष्टि, कलियों के समान त्याग दान आत्म-विस्तार तथा पर-सेवा-पूर्ण कर्म से हो सकती है, स्वार्थ रूपी सौरभ-सुख को बन्दी करने से नहीं। वह कर्म जिससे व्यष्टि तथा समष्टि दोनों का सुख सिद्धि नहीं होता वह अन्ततो-गत्वा दुःखदायक होता है। व्यष्टि तथा समष्टि के विकास मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अत व्यष्टि तथा समष्टि के कर्म एक दूसर के पूरक होने चाहिए। व्यष्टि का कर्म जब समष्टि के मगल मे सहायक सिद्ध नही होगा तो समष्टि उस व्यक्ति को मनु क समान धराशायी कर दगी। उसी प्रकार जब समष्टि, व्यष्टि-विकास की पूरक सिद्ध नहीं होगी तो व्यष्टि उससे अपना नाता तोड़, उसकी सत्ता को मिटा देने का प्रयत्न करगा। व्यष्टि विकास की उपेक्षा करनेवाले सभी राज्यो तथा सस्थाओं के मिटने का मूल कारण यही रहा।

कामायनी मे सदाचार की रक्षा के लिए असत् कर्मो का उचित परिणाम उचित मात्रा मे वर्तमान है। देवताओं के असत् कर्म—दम्भ, वासना की उपासना, उन्मत्त-विलास आदि का परिणाम प्रलय से अधिक हो ही क्या सकता था? किलाताकुलि के पौरोहित्य से पशुहिंसापूर्ण काम्य यज्ञ मनु ने किया। परिणाम स्वरूप मनु के सुख, उल्लास, भोग की आलम्बन श्रद्धा उनसे रूठ गई। इस प्रकार कातर पशु की हिंसा मनु के सुख तथा उल्लास मे बाधक हुई।

"जिसका था उल्लास निरखना
वही अलग जा बैठी।
+ +
वही प्रसन्न नही? रहस्य कुछ
इसमे सुनिहित होगा।

आज वही पशु मर कर भी क्या
सुख में बाधक होगा ?"

जिन किलाताकुलि के पौरोहित्य से मनु ने यह काम्य-यज्ञ किया वे ही मनु के विरुद्ध सारस्वत नगर में विप्लव के प्रधान नेता बने—

"कायर तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया।
अरे, समझकर जिनको अपना था अपनाया।"

आत्म-विस्तार हीन मनु का, श्रद्धा के पुत्र प्रेम से ईर्ष्या कर भाग जाना असत् कर्म है। परिणाम-स्वरूप मनु को सर्वत्र नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ी, वे इधर-उधर मारे मारे फिरे, राष्ट्र के नियामक होने पर भी सुख या शान्ति न प्राप्त कर सके। बुरे या असत् कर्मों में नाश की शक्ति स्वयं छिपी है, जिसके समक्ष बड़े से बड़े राष्ट्र-नियामक ही नही महान से महान् चक्रवर्ती सम्राट भी परास्त हो चुके हैं, देवशक्ति भी हार खाकर प्रलय की गोद में जा चुकी है। ठीक उसी प्रकार सत्कर्मों मे उत्थान का बीज समाया है जो ज्ञात या अज्ञात रूप से पल्लवित होते हुए कर्ता को अपनी महान् शक्ति प्रदान करता है कि वह नर से नारायण हो सकता है। श्रद्धा को कल्याण-धाम मगल-प्रतिमा, शक्तिस्वरूपा, विश्वामित्र, मातृमूर्ति बनाने का श्रेय सत्कर्मों को ही है।

कामायनी के घटनाचक्र कुछ ऐसे विषम है कि जिससे काव्य मे असत् कर्म की ही व्याप्ति सत्कर्म से अधिक दिखाई पडती है। यद्यपि सत् तथा असत् कर्मों का उचित परिणाम दिखाने से काव्य की साध्यावस्था मे कुछ अन्तर नही पडता किन्तु सत्कर्मों की व्याप्ति, असत् कर्मों से कम होने से काव्य की साधनावस्था की गुरुता, गभीरता तथा महत्ता नष्ट हो जाती है।

इसी लिए यह बात* शुक्ल जी को बहुत खटकी थी जिसका संकेत उन्होंने अपने इतिहास में किया है। कर्म लोक का वर्णन करते समय भी कवि को वहाँ केवल असत् कर्म ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। कवि चारों ओर पीड़ा, विकलता, हिंसा, तृष्णा, संघर्ष, असन्तोष, विफलता, वासना की प्यास, शोषण, दम्भ, भूख की ज्वाला ही देखता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म लोक के इस भीषण चित्रण में वर्तमान युग के असत् पक्ष का ही प्रभाव कवि पर अधिक पड़ा है।

---

*कर्म को कवि ने या तो काम्य यज्ञ के बीच दिखाया है अथवा उद्योग धन्धों या शासन-विधानों के बीच।

पृष्ठ ८३५ हि० सा० का इतिहास रा० च० शुक्ल।

परिशिष्ट [४]

कामायनी में नियति का स्वरूप

ससार में किस वैयक्तिक अथवा सामाजिक घटना, परिस्थिति, दृश्य, वस्तु तथा कार्य के बौद्धिक कारण अथवा प्रयोजन ढूँढने की असमर्थता ने अथवा प्राकृतिक शक्तियों तथा कार्यों के समक्ष मानव की विवशता ने आत्मसन्तोष, शक्ति तथा धैर्य के लिए नियति सम्बन्धी विचारों की कल्पना की, आगे चल कर दार्शनिकों ने अपने विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार उसे विभिन्न रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। प्रसादजी के भी नियतिसम्बन्धी विचार इन्ही उपर्युक्त परिस्थितियो मे उत्पन्न हुए। इनके नियति-सम्बन्धी विचारों का मूल स्रोत इनका प्रारम्भिक दु खमय जीवन है। सब प्रकार के बौद्धिक प्रयत्नों के होते रहने पर भी इनके पिता, माता, बडे भाई तथा दो धर्म-पत्नियाँ देखते देखते चल बसी। इनका या इनके परिवार— किसी का भी कुछ वश प्राकृतिक शक्तियों तथा कार्यों पर न चल सका। आगे चल कर इनकी वैयक्तिक प्रेम सम्बन्धी असफलता तथा निराशा ने इनके नियति सम्बन्धी विचारो को दृढतर कर दिया। यद्यपि प्रसादजी के नियति सम्बन्धी विचार बीजाङ्कुर रूप मे इनके प्रारम्भिक प्रगीतों मे यत्र-तत्र प्राप्त होते है। किन्तु उनका स्पष्ट उल्लेख 'आँसू' मे ही दिखाई पड़ता है। आँसू कवि की प्रेम-कथा की भावात्मक अभिव्यक्ति है। अतः आँसू के अन्तर्गत आये हुए कवि के नियति सम्बन्धी विचार सिद्धान्तवाद के रूप में ही गृहीत होंगे, अर्थवाद के रूप मे नही। इस दृष्टि से आँसू में आये हुए कवि के नियति सम्बन्धी प्रसंगों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है :—

निर्मोह काल के काले
पट पर कुछ अस्फुट लेखा।
सब लिखी पढ़ी रह जाती
सुख दुखमय जीवन रखा।

❀ ❀ ❀

नचती है नियति नटी सी,
कन्दुक क्रीड़ा सी करती।
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

❀ ❀ ❀

सकेत नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये।
जब सोती गहन गुफा में
चञ्चल लट को छिटकाये।

प्रथम और द्वितीय छन्द से यह ज्ञात होता है कि 'प्रसाद' 'आँसू' की रचना तक नियति को निष्ठुर, निर्दय एव निर्मोही मानते हैं। तभी तो वह, उनके प्रियतम की जीवन लीला' अकाल

---

(१) मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरन्द भरी खिल जायें
तोड़ी जायें बेमन की।
(आँसू)

से ही समाप्त कर देती है। उन्हे अपने प्रेमी[1] के साथ जवानी के कुछ क्षण बिताने का भी समय नहीं देती। अर्थात् मनुष्य इच्छा के विपरीत ही उसका कार्य-चक्र चलता रहता है। अर्थात् प्रसाद की नियति में व्यक्ति के कर्म स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है। नियति अपने कर्म-चक्र को घुमाकर व्यक्ति के सुख को कब दुख में परिणत कर देगी, इसको न तो वह जानता है और न रोक ही सकता है। यह नियति संसार के प्राणियों को कन्दुक के समान उछालती रहती है और मनुष्य उसके समक्ष निश्चेष्ट होकर इधर उधर गिरते पड़ते रहते हैं अर्थात् मनुष्य नियति के वश में है, उसका दास है। वह स्वेच्छापूर्वक उसे नचाती रहती है। तृतीय छन्द में नियति का प्रकृति-व्यापी स्वरूप वर्णित है। प्रसाद जी की दृष्टि में मनुष्य के ही नहीं, प्रकृति के भी सारे कार्य-कलाप नियति की ही प्रेरणा से चल रहे हैं। नियति की ही आज्ञा पाकर ज्वालामुखी की आग पर्वत के भीतर ही भीतर अपनी लपटों को फैलाये अन्धकार में पड़ी रहती है। वैयक्तिक अनुभूति की प्रबलता के कारण 'आँसू' की रचना तक प्रसादजी की नियति का स्वरूप निष्ठुर, दुखद, त्रासक एवं अन्ध रूप में ही दिखाई पड़ता है। इसके बाद की रचनाओं—विशेषत. नाटकों में नियति[2] के

---

(१) यदि दो घड़ियों का जीवन
  कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
  चुप चाप चू पड़े जीते ?
  (आँसू)

२ दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीडा कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को

दुखद तथा सुखद दोनों स्वरूप मिलते हैं। यदि प्रसादजी अपनी वैयक्तिक अनुभूति पर ही निर्भर रहते तो उनकी नियति का स्वरूप दुःखवादी एवं त्रासक ही रहता तथा उनके जीवन का दृष्टि-कोण निराशावादी। किन्तु उनके अध्ययन, मनन तथा चिन्तन से उत्पन्न उनकी आदर्शात्मक प्रवृत्ति ने नियति सम्बन्धी विचारों एव धारणाओं का आदर्शीकरण करके उसे उदात्त स्वरूप प्रदान किया। यदि तात्विक दृष्टि से 'प्रसादजी' के जीवन दर्शन पर विचार किया जाय तो यह विदित होगा कि उनके आनन्दवाद तथा समरसता के सिद्धान्त उनकी नियति सम्बन्धी धारणाओं के उदात्त स्वरूप की सहज उपज है।

कामायनी तक आते आते प्रसाद की नियति का स्वरूप परम उदात्त तथा निर्वैयक्तिक (impersonal) हो गया है। कामायनी मे नियति एक अज्ञात तथा अलौकिक वास्तविकता के रूप में दिखाई पड़ती है, जिसके भीतर विश्वात्मक शक्तियों का समावेश है। उसी के संकेत से चेतन, अचेतन, चर-अचर, ग्रह-नक्षत्र, पृथ्वी-आकाश—सभी अपने अपने कर्म-पथ पर चल रहे है। इनके कर्म-पथ भी नियति द्वारा पहले से सुनिश्चित हैं। विश्व के सब प्रकार के कर्मचक्रों को चलानेवाली नियति है।

"नियति चलाती कर्म चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना"
(पृष्ठ—२७५) [रहस्य सर्ग]

अपनी अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है। इसमें व्यक्तित्व का मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्व भूत हित' की कामना पर ही लक्ष्य होती है। (जनमेजय नागयज्ञ) पृष्ठ ६६

जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही? ध्रुवस्वामिनी—पृष्ठ (२८)

काम, कोध, मद, मोह, लोभ, तृष्णा आदि ममत्वमयी वासनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले कार्य नियति की ही आज्ञा से हो रहे है। ससार मे सभी लोग किसी न किसी इच्छा के सम्पादन के लिए व्याकुल दिखाई पड़ते है—यह भी नियति की ही प्रेरणा है :—

कर्म चक्र सा घूम रहा है,
यह गोलक बन नियति प्रेरणा।
सबके पीछे लगी हुई है,
कोई व्याकुल नई ऐषणा।
[२९४ पृष्ठ—रहस्य सर्ग]

किसी व्यक्ति का मानसिक परिवर्तन भी नियति के ही अनुशासन से होता है। मन मे सकीर्णता अथवा व्यापकता नियति की ही प्रेरणा से उत्पन्न होती है :—

'व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा मे रहे बन्द'
[पृष्ठ १७३—इड़ा सर्ग]

इस ससार मे मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन ही नही वरन् बाह्य परिवर्तन भी नियति की ही आज्ञा से होते है। प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक—सभी प्रकार के परिवर्तन नियति की ही इच्छा से होते है :—

"अब विकल प्रवर्त्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यन्त्र।"

सब प्रकार की सम्पत्ति, धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि की प्राप्ति भी नियति की इच्छा पर निर्भर है। श्रद्धा-मनु परिचित होकर एक साथ रह रहे है, श्रद्धा ने सेवा, दया, माया, ममता आदि हृदय की निधियाँ मनु पर निछावर कर दी है, उस समय कवि स्वय कहता है :—

"चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल।—
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।"

इसकी शक्ति अनन्त है जिनके समक्ष मनुष्य के सभी प्रकार के यत्न, साधन, उपाय विफल हो जाते है, उसकी दैवी, आसुरी—सभी शक्तियाँ पराजित हो जाती है। मानव ही नही देवता भी इसके दास है। इसके अगुलिनिर्देश पर वे कठपुतली के समान नाचते है। कामायनी की नियति, सृष्टि के उद्भव, स्थिति, विकास एव सहार की जननी है। देव-सृष्टि का ध्वस, मनु द्वारा मानवीय सृष्टि की रचना एव विकास नियति की ही प्रेरणा से हुआ। प्रलय के पश्चात प्रकृति के क्रिया-कलापो तथा मनु के एकाकी वातावरण का, कवि नियति का पूर्ण शासन मानता है, और इच्छा न रहते हुए भी मनु की कर्म-तल्लीनता को, नियति के समक्ष मानव की विवशता कहता है —

उस एकान्त नियति शासन मे
चले विवश धीरे धीरे।
एक शान्त स्पन्दन लहरों का
होता ज्यो सागर तीरे॥

कामायनी की नियति आँसू की नियति के समान अन्ध, जड एव उच्छृङ्खल नही है। यह सचेतन, सर्वज्ञानमयी एव अन्तत कल्याणमयी है। कभी कभी वह बाहर से भीषण, भयकर, दुखद एव त्रासक प्रतीत होते हुए भी परिणामत शिवत्वमयी तथा विकासमयी है। जो मनुष्य इसे भयकर, त्रासक अथवा दुखद समझता है, वह इसके एक पक्ष या एक रूप को लेकर अथवा उसके भीतरी या दूरदर्शी उद्देश्य को न समझने के कारण। इसके सभी कार्य न्यायानुरूप होते है। जब कभी जहाँ यह त्रासक

या दुखद रूप धारण करती है तब उसका उद्देश्य रहता है मनुष्य का दम्भ, अहकार, उच्छृङ्खलता आदि का शमन करना, समाज के असन्तुलन, सघर्ष आदि को मिटाना एव व्यक्ति तथा समाज को व्यापक दृष्टि से विकास की ओर उन्मुख करना। प्रसाद की दृष्टि मे मानव, नियति को भूलने के कारण अथवा उसे न पहचानने के कारण अकाण्ड ताण्डव मे लीन होता है, अपने ऐश्वर्य, समृद्धि एवं सफलता पर व्यर्थ का अभिमान करता है तथा असफलता, पराभव, दुख, हानि पर व्यर्थ का शोक एव विषाद। इस प्रकार नियति की अनुभूति न होने से मनुष्य की शक्तियाँ विकृत तथा कलुषित हो जाती है अथवा निरर्थक रूप मे उनका अपव्यय होता है। कामायनीकार की दृष्टि मे नियति का सच्चा प्रत्यभिज्ञान व्यक्ति के अभिमान, दम्भ, उच्छृङ्खलता असन्तोष, शोक, विषाद आदि को घटाता है। नियति की सच्ची पहचान रखनेवाला व्यक्ति अपने को किसी कर्म का कर्ता या भोक्ता नही मानता, केवल एक साधन मात्र समझता है। नियति को ही सभी कार्यों का कर्ता, धर्ता समझता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मैं ऐसा करता तो ऐसा होता; क्योंकि वह जानता है कि जो पहले से निश्चित था वही हुआ। वह किसी असम्भावित या आकस्मिक कार्य के होने पर भी अभिमान या शोक नहीं करता। इस प्रकार नियतिवादी न तो किसी सफलता, समृद्धि, सुख सुविधा आदि प्राप्त होने पर अभिमान या उच्छृङ्खलता करता है और न किसी असफलता, हानि, दुख, विघ्न आदि उत्पन्न होने पर विषाद या शोक। वह नियति को कर्मफलदायक समझकर सभी स्थितियों मे आनन्दित रहता है। उसका यह अटल विश्वास रहता है कि उसके जीवन मे मान-अपमान, लाभ-हानि, सफलता असफलता, सुख-दुख, सुविधा-विघ्न, स्वास्थ्य रोग

आदि—जो कुछ भी प्राप्त हो रहे हे, सब किसी न किसी अच्छाई या भलाई के लिए। इसी दिव्य दृष्टि एव विश्वास के प्राप्त होने पर मनुष्य दुख मे सुख के साधन, असफलता मे सफलता के तत्त्व, अपमान मे मानवर्द्धन की शक्ति, विघ्नो मे सुविधा प्रदान करने के लक्षण, हानि मे लाभ के सन्देश, रोग मे स्वास्थ्य लाभ की साधना का दर्शन करने लगता है, जगत की सभी ज्वालाओं एव अभिशापों को ईश का छिपा हुआ वरदान समझने लगता है। इस प्रकार नियति की वास्तविक अनुभूति मनुष्य मे समरसता की दृष्टि लाती है।

कामायनी मे नियति का स्वरूप बहुत ही विशद एव भव्य है। वह व्यक्ति के ही कर्मों का फल देनेवाली नहीं है वरन् प्रकृति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी की कार्य* दिशा निश्चित करनेवाली है। व्यक्ति का रूप, रङ्ग, आकृति, स्वभाव, वातावरण, जन्म, मरण, आयु, स्वास्थ्य, रोग, सामाजिक स्थान, यश, सफलता—सब नियति द्वारा पूर्व निश्चित हैं। प्रकृतिगत पदार्थों की जैसी स्थिति अथवा विकास नियति द्वारा निश्चित होता है, वैसा ही कारण उनमे प्रविष्ट करता है और तदनुरूप उनका अस्तित्व अथवा ध्वस निश्चित समय पर प्रकट होता है। समाज का इतिहास नियति की पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार अपना रूप-रग धारण करता है। समाज के विभिन्न क्षेत्रो के नेता भी एक निश्चित समय पर एक निश्चित रूप मे प्रकट होते हं। राष्ट्रों का उत्थान-पतन भी नियति के विधानानुसार ही होता है। विश्व के युद्ध-शान्ति, प्रलय-सृष्टि, ईति-भीति—सब नियति द्वारा निश्चित होते हे। उपर्युक्त विवेचन

---

* नियति चलाती कर्मचक्र यह''''रहस्य सर्ग (पृष्ठ २७५)

का तात्पर्य यह है कि प्रसाद की दृष्टि मे नियति का आधिपत्य संसार की सभी वस्तुओ पर स्थापित है।

कामायनी की नियति व्यक्ति को आलसी, निष्क्रिय, गतिहीन, तथा अनैतिक नही बनाती, वरन् उसे सदा विकास की ओर ले जाती है। नियति को अन्ध, अचेतन तथा उच्छृखल समझनेवाले व्यक्ति आलसी या निष्क्रिय होते है। नियति को चेतन एव अलौकिक सत्ता माननेवाला व्यक्ति उसे महत् उद्देश्यमयी मानता है तथा अपने जीवन को उसका यंत्र समझने के कारण वह महत् लक्ष्यवाला हो जाता है। उसका यह अटल विश्वास रहता है कि महत् उद्देश्यमयी नियति उससे महत् कार्य कराना चाहती है। ऐसा सिद्धान्त अपनाने के कारण वह जीवन की अनुकूल अथवा प्रतिकूल सभी परिस्थितियो को किसी दिव्यतर अनुभूति अथवा महत्तर कार्य-साधन के लिए आई हुई समझकर नियति के सहारे वह कर्म-क्षेत्रों मे कूद पड़ता है। नियति के सदुद्देश्य पर श्रद्धा रखने के कारण जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियाँ तथा जगत की ज्वालाओं से वह पीड़ित नही होता, वरन् उनको भी वह अपने जीवन की किसी अच्छाई के लिए आया हुआ मानता है। इस प्रकार सामान्य लोगों को दुखित करनेवाली, अमूल्य मानसिक शक्तियो को नष्ट करनेवाली, विक्षुब्ध एव पागल करनेवाली, मृत्यु की गोद तक पहुँचानेवाली, जीवन की प्रतिकूल तथा विषम परिस्थितियो मे भी प्रसाद का नियतिवादी हँसता हुआ आनन्द-पूर्वक उनसे जीवन-निर्माणकारी-शक्तियो को सञ्चित करता है। विषम परिस्थितियों से उपार्जित इन नवीन शक्तियो से उसका नैतिक बल बढता है तथा वह विकास की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार कामायनी का नियति-दर्शन विकासवाद के अनुकूल पड़ता है, विरुद्ध नही। कामायनी में नियति के स्वरूप के

प्रत्यभिज्ञान के लिए यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि प्रसाद ने उसे निराकार ब्रह्म की सभी शक्तियो, गुणों, विशेषताओं, रूपों एव कार्यों से समलकृत करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इस प्रसग मे उन्होंने उसका (ब्रह्म का) नाम कहीं नहीं लिया है।

कामायनी मे नियति के स्वरूप की स्पष्टता के लिए उनके कार्य पर भी सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। कामायनी की नियति विविध शक्तिशालिनी तथा विविध रूपवाली है। अत. इसके कार्य विविध रूप ग्रहण करते है। सृष्टि-प्रलय, उत्थान-पतन, जीवन-मृत्यु, युद्ध-शान्ति, स्वास्थ्य-रुजता, व्यापकता-सकीर्णता, लाभ-हानि आदि विविध प्रकार के भले बुरे कार्यो की जितनी सख्या इस धराधाम पर तथा अन्यत्र किसी लोक मे हो सकती है—वे सब नियति के ही क्रिया-कलाप हैं, किन्तु उन सबमे नियति का एक ही लक्ष्य रहता है—विश्व का विकास अथवा सृष्टि का मगल-साधना या मानव की कल्याण कामना। इस प्रकार प्रसाद की नियति, सृष्टि विकास की अदृश्य हेतु है। वह विश्व के चेतन-अचेतन, चर-अचर सभी प्राणियो के भले-बुरे कार्यों का उचित प्रतिकार देकर वसुधा पर नैतिक बल की स्थापना करती है। दम्भ-अहकार से पूर्ण तथा कर्तृत्व मद से मत्त व्यक्ति जब नियति को भूलकर अकाण्ड ताण्डव मे लीन होता है तो नियति उसे एक बार समझाने का प्रयत्न करती है। समझाने पर भी जब नही मानता तब उसे किसी गम्भीर प्रलय की गोद मे ला पटकती है। इस प्रकार मनुष्य को कर्म-उच्छ्रृ-खलता से रोकने का प्रयत्न करती है। इतने पर भी प्रमादवश जब वह अनर्थ करने लगता है तब किसी गम्भीरतर प्रलय द्वारा उसे आत्मसयम का पाठ पढाती है, अर्थात् नियति जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति को तिरस्कृत कर उसे एक निश्चित नियम-पथ पर लाती

है। देव सृष्टि के लोग जब अपने बल, वैभव, समृद्ध, कीर्ति, दीप्ति का कर्ता अपने को मानकर अपनी ही उपासना करने लगते हे तथा अहकार, दम्भ आदि से मत्त होकर नाना प्रकार के अकाण्ड ताण्डव करने लगते है तब उनकी उच्छृखलता को रोकने के लिए उनके ऊपर प्रलय की वर्षा होती है।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल वैभव आनन्द अपार।

× × × ×

कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती,
अरुण किरण सी चारो ओर।

❀ ❀ ❀

शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पदतल मे विनम्र विश्रान्त।
कँपती धरणी, उन चरणो से
होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।
स्वय देव थे, हम सब तो फिर,
क्यों न विशृखल होती सृष्टि।
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि॥
भरी वासना-सरिता का यह
कैसा था मदमत्त प्रवाह।
प्रलय जलधि मे सगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह।
विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये।

❀ ❀ ❀ ❀

नियति द्वारा प्रलय जैसी आपत्ति पाने पर मनु से आशा थी कि व भविष्य मे विलासी, अभिमानी एव उच्छृखल नहीं बनेगे, किन्तु परिणाम इसके प्रतिकूल होता है। वे श्रद्धा तथा इडा—दोनों के साथ स्वच्छन्द रीति से काम-वासना सतृप्त करना चाहते है। व सारस्वत प्रदेश की सभी प्रकार की उन्नतियो का कर्ता[1] अपने को मानते है। कर्तृत्व मद से मत्त होने क कारण वे नियामक होकर भी प्रजा क लिए अपने ही बनाने हुए नियमो[2] का पालन स्वय नही करते। वे अपने को[3] चिर-स्वतत्र समझकर दिन दहाड़ इडा के ऊपर वासना तृप्ति क लिए आक्रमण करते है, तब नियति भयकर युद्ध द्वारा उन्हे दण्डित करके आत्म-शासन का पाठ पढाने का विधान करती है।

ताण्डव मे थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे।
नियति विकर्षणमयी त्रास से सब व्याकुल थे।
मनु फिर रहे, अलात चक्र से उस घन तम मे।
वह रक्तिम उन्माद नाचता कर निर्मम में।

---

१ तुम्हें तृप्तिकर सुख के साधन सकल बनाये।
मैने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये।
(पृष्ठ २०७) (सघर्ष सर्ग)

२—नियम इन्होने परखा, फिर सुख साधन जाना।
वशी नियामक रहे, न ऐसा मैंने माना॥
(पृष्ठ १९९) (सघर्ष सर्ग)

३—मै शासक, मै चिर स्वतत्र, तुम पर भी मेरा।
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा॥
(पृष्ठ २०६) (सघर्ष सर्ग)

नियति व्यक्ति तथा समाज दोनों के संघर्ष एवं द्वन्द्व को मिटा कर सन्तुलन स्थापित करती है। मनु और श्रद्धा मे जब संघर्ष उत्पन्न होता है तब नियति मनु को वहाँ से भगाने का विधान प्रस्तुत करती है। श्रद्धा के यहाँ से भागने के उपरान्त भी जब मनु के हृदय का संघर्ष तथा द्वन्द्व नही मिटता तब नियति उनको भयकर परिस्थितियो मे ला पटकती है।

"इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही,
खोखली शून्यता मे प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही।

अन्त में मनु जब अपनी उच्छृखलताओ का फल अच्छी तरह से भोगकर समरसता-स्थापन के योग्य हो जाते हैं तभी उन्हे श्रद्धा का दर्शन होता है।

कामायनीगत नियति के स्वरूप तथा कार्यों से उनकी निम्नाकित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। कामायनी की नियति वैयक्तिक कर्म-फल से परे एक सर्वातिशायी एव इन्द्रियातीत सत्ता है, जिसकी आज्ञा से ब्रह्म साकार होते हैं एव विश्वात्मक शक्तियाँ अवतरित होती हैं। यह सर्वशक्तिमान, सर्वरूपमान, सर्वव्यापी एव सर्वज्ञानमयी है। मनुष्य के सभी सम्बन्धो मे इसकी पैठ है। सृष्टि के समस्त व्यापार इसके अधिकार मे है। मनुष्य की सारी शक्तियाँ इसके शासनानुसार संचालित होती हैं। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न नैतिक नियम, नियति के विशाल रूप के विभिन्न घटक हैं। यह अनुभवैकगम्य सत्ता है। किसी बाह्य उपचार या साधन से इसे कोई नही समझ सकता। नियति पर श्रद्धा रखने से जीवन सरल हो जाता है, मानसिक संघर्ष एव द्वन्द्व मिट जाते है, जीवन में किसी प्रकार का असन्तुलन अथवा उच्छृखलता का प्रवेश नही होता। शान्ति एव सन्तोष की

सदा वर्षा होती रहती है। कामायनी की नियति मे व्यक्ति के कर्म-स्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं। मनुष्य के प्रबल से प्रबल क्रियमाण कर्म भी उसे नहीं बदल सकते अर्थात् प्रयत्न करने पर भी नियति-जाल से कोई मुक्त नहीं हो सकता।

कामायनीगत प्रसाद की नियति की अद्वितीयता एव मौलिकता समझने के लिए अन्य[1] धर्मान्तर्गत प्रतिष्ठित नियति के स्वरूपों से उसकी तुलना करना आवश्यक जान पड़ता है। हिन्दू धर्म मे आत्मा या ब्रह्म की शक्ति नियति से अधिक मानी गई है। किन्तु प्रसाद की नियति से ऐसी बात नहीं है। वह सर्वशक्ति-शालिनी एव सर्वातिशायी सत्ता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों मे नियति का वैयक्तिक स्वरूप ही अधिक मिलता है जो पुनर्जन्म के सचित कर्मों के फल से दूसरे जन्म मे प्रारब्ध रूप से प्रकट होता है। व्यक्ति अपने प्रस्तुत जीवन के प्रबल कर्मों (क्रियमाण कर्मों) से उसे बदलने की सामर्थ्य रखता है अर्थात् हिन्दू धर्म मे कर्म स्वातन्त्र्य को स्थान है, किन्तु प्रसाद की नियति को व्यक्ति का कोई कर्म या शक्ति परिवर्तित नहीं कर सकती। उसके समक्ष क्या देवता, क्या असुर—सबकी शक्तियाँ पराजित हो जाती है। वह अपराजेय सत्ता है। उसमे व्यक्ति के कर्म स्वातन्त्र्य को रञ्च-मात्र भी स्थान नहीं है। वह एक स्वतन्त्र निराकार एव निर्विकार वास्तविकता है। इसका स्वरूप विश्वात्मक है। इसमे वैयक्तिक, प्राकृतिक, सामाजिक—सभी कर्म आ जाते है। यह एक अदम्य एव अलौकिक शक्ति है।

---

१ यहाँ अन्य धर्मान्तर्गत प्रतिष्ठित नियति के स्वरूप तुलना के लिए इनसाइक्लोपीडिया आफ इथिक्स एन्ड रिलिजन के वाल्यूम ५ से लिये गये हैं।

बौद्ध-धर्म मे भी नियति को मनुष्य के कर्म नही बदल सकते। इस प्रकार वहाँ भी मनुष्य नियति का दास माना गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार सन्यास वृत्ति धारण करने से मनुष्य नियति-जाल से मुक्त हो सकता है, किन्तु प्रसाद की नियति से मनुष्य किसी प्रकार भी छुटकारा नही पा सकता।

चीनी धर्म मे नियति का स्वरूप निर्वैयक्तिक (impersonal) माना गया है। वहाँ भी मनुष्य नियति का क्रीडा कन्दुक समझा जाता है, विभिन्न नैतिक विधान, पारिवारिक तथा सामाजिक नियम, नियति के विभिन्न घटक माने जाते है। चीनियो के यहाँ नियति की शक्ति किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता से प्रादुर्भूत मानी जाती है, किन्तु प्रसाद की नियति किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता से उद्भूत नहीं है। वह स्वय एक अलौकिक सत्ता है।

इसलाम धर्म मे ईश्वरेच्छा ही नियति मानी गई है। मनुष्य का एकमात्र मार्ग उस इच्छा की सविनय स्वीकृति है, किन्तु प्रसाद की नियति ईश्वरेच्छा नही, नियति की इच्छा ही ईश्वरेच्छा है। पारसी धर्म में नियति सर्वनियामक एव अनुशासक शक्ति के रूप में गृहीत है। देवता भी नियति के अधीन हैं। पारसियो के यहाँ भी नियति मे कर्म स्वातन्त्र्य को कोई स्थान नही है। पुरुषार्थ करने पर भी वही होगा जो पहले से सुनिश्चित है। पारसी धर्म ग्रन्थों मे नियति अचेतन एव उच्छृखल रूप मे वर्णित है, किन्तु प्रसाद की नियति चेतन एव न्यायशक्ति सम्पन्न सत्ता है।

क्रिश्चियन धर्म मे नियति मे कर्म स्वातन्त्र्य को स्थान है किन्तु वह कर्म-स्वातन्त्र्य ईश्वरेच्छा पर निर्भर करता है। ईश्वरेच्छा ही जीव से स्वतन्त्र कर्म कराती है। इस प्रकार वहाँ ईश्वर की शक्ति नियति की शक्ति से बडी मानी गई है, किन्तु प्रसाद की नियति सर्वशक्तिशालिनी एव निर्विशेष सत्ता है, उसकी शक्ति अपराजेय

एव अद्वितीय है। ग्रीक धर्म मे नियति का केवल त्रासक रूप ही वर्णित है, किन्तु प्रसाद की नियति सर्वरूपमाना है। उसमे त्रासक-हासक' सुखद-दुखद, कोमल-कठोर सभी रूप आ जाते है, किन्तु सबका उद्देश्य है सृष्टि का विकास। जनसाधारण मे प्रचलित नियति सम्बन्धी अन्धविश्वास कामायनी मे कही नही है। जैसे, सुदिन, कुदिन, शकुन, अपशकुन, हस्तरेखा, जन्मकुण्डली, व्रत, कथा, पूजन, हवन, दर्शन, किसी साधु या महात्मा के वरदान आदि का भाग्य पर प्रभव, रामशलाका से भाग्य निकालने का विश्वास, ऐन्द्रजालिक विधि-निषेध पर आस्था आदि का उल्लेख कामायनी मे कही नही है।

विश्व के निर्माण मे स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों तत्त्वों का सयोग है। स्थूल तथा सूक्ष्म को अलग करने का जितना प्रयत्न हो रहा है, उतना ही यह ससार रहस्यात्मक बनता जा रहा है। ससार मे जब तक इस प्रकार के रहस्य वर्तमान रहेगे, तब तक इन्हे सुलझाने का प्रयत्न करने के लिए ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि मे मनुष्य का विश्वास किसी न किसी मात्रा मे रहेगा ही। नियति भी बुद्धि से न सुलझनेवाले रहस्यो को सुलझाने के लिए एक कल्पित वस्तु है। अत. बुद्धि से न सुलझनेवाले रहस्य जब तक इस ससार मे रहेगे तब तक नियति के ऊपर विश्वास भी किसी न किसी मात्रा मे रहेगा ही।

आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् भौतिक दृष्टि से भी समाज मे नियति को मानने की आवश्यकता है। ससार मे जब तक विषमता की सत्ता है, अमीरी और गरीबी है, पक्षपात का प्रसार है, अल्पकालीन तथा आकस्मिक मृत्युएँ जब तक बन्द नहीं होतीं, ईतिभीतियों से पूर्णत. त्राण पाने का विधान बनाने मे मनुष्य जब तक समर्थ नही होता, तब तक वह प्रकृति के ऊपर पूर्ण रूप से विजय

नहीं प्राप्त कर लेता, विश्व की सभी घटनाओं, कार्यों, बातों के बौद्धिक उत्तर पाने मे जब तक वह सफल नही होता, जब तक वह अपनी सभी परिस्थितियों का स्वामी नही बन जाता, जब तक वह अपनी स्थिति, शक्ति, सम्पत्ति आदि को अन्य दत्त मानता है, तब तक उसके नियति-विश्वास को कोई रोक नही सकता। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि क्या कामायनीगत नियति का स्वरूप ऐसे मनुष्यो के लिए हितकारी सिद्ध होगा ? समस्या केवल श्रद्धा तत्व की है। यदि मनुष्य की श्रद्धा उस प्रकार की नियति मे हो गई तो वह अवश्य हितकारी सिद्ध होगी। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी मे प्रसाद का नियति-स्वरूप बहुत ही आदर्श-वादी है। आज के वैज्ञानिक युग का यथार्थवादी बुद्धिप्रधान मानव उसमें कितनी श्रद्धा रख सकेगा—यह ठीक रूप से नहीं कहा जा सकता।

———

परिशिष्ट [५]

कामायनी में भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति

किसी कवि अथवा कृति की कला तथा दर्शन का ठीक मूल्य आँकने के लिए उस देश की संस्कृति का वास्तविक ज्ञान आवश्यक है क्योंकि कोई कवि अथवा कृति अपने युग की संस्कृति की उपज कही जाती है। उसका निर्माण उस देश की सांस्कृतिक-विचारधारा-विशेष के प्रभाव, प्रेरणा अथवा प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होता है, विशेषत महाकाव्य का निर्माण तो संस्कृतियों के सक्रान्ति काल मे ही देखा जाता है। कामायनी की कला तथा दर्शन का ठीक मूल्य पहचानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि इसका निर्माण भारतीय संस्कृति की किन विचारधाराओं, तत्त्वों अथवा पक्षों के प्रभाव प्रेरणा या प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ ? इसकी सृष्टि किन-किन संस्कृतियों के सन्धि अथवा सक्रान्ति काल मे हुई ? इसका झुकाव किस संस्कृति की ओर विशेष रूप से है ? वह झुकाव पाठको के लिए कहाँ तक स्वस्थ एव सुखद है ?

बुद्धिवादी विदेशी संस्कृति के प्रभाव-काल मे जीवन के आत्म-तत्त्वो का अपमान देख कर कवि प्रसाद की आत्मा तड़प उठी, बुद्धिवाद के अतिवाद तथा श्रद्धा के अभाव से ससार में हिंसा, प्रलय अशान्ति, उद्वेग, संहार आदि को देख कर कवि का करुणापूर्ण हृदय आकुल हो उठा। भौतिकवाद की मरीचिका मे

आनन्द सरोवर की कल्पना करने वाले बुद्धिवादियों को मृग सदृश प्रताड़ित होते देख उनको उचित पथ बताने के लिए कवि को हृदयवादी भारतीय संस्कृति के आलम्बनों से अडिग प्रेरणा मिली। उस युग में अव्यावहारिक ह्रासोन्मुखी रूढ़ियों एवं परम्पराओं मे जकड़ी भारतीय संस्कृति की दुर्दशा देख कर उसकी व्यावहारिक, वैज्ञानिक तथा विकासोन्मुखी व्याख्या करने के लिए कवि का मन व्याकुल हो उठा। उन घड़ियों में समाज को बाँधनेवाले विभिन्न तन्तुओं को विछिन्न एवं व्यक्ति को सब प्रकार से असन्तुलित देखकर, व्यक्ति तथा समाज मे समन्वय स्थापित करने के लिए कवि की बुद्धि क्रियाशील हो उठी। समन्वयवाद का सिद्धान्त सबसे विशद रूप में कवि को भारतीय संस्कृति मे मिला। समन्वयवाद के स्वर को विशद रूप मे मुखरित करने के लिए कवि को महाकाव्य के प्रणयन की आवश्यकता प्रतीत हुई। जिसकी पूर्ति का प्रयत्न कवि ने कामायनी सर्जना द्वारा किया। उस समय हमारे देश के लोग विदेशी सभ्यता एवं संस्कृति के बाह्य एवं क्षणिक आकर्षण मे अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को भूल रहे थे। ऐसे संक्रान्ति काल मे एक ऐसे महान् कलाकार की दिव्य एवं प्रभविष्णु वाणी की आवश्यकता थी जो भूले हुए लोगों को कलात्मक ढग से यह समझा सके कि तुम्हारा वास्तविक कल्याण एवं विकास उसी संस्कृति को अपनाने मे है जो तुम्हारे देश के जल, वायु, प्राकृतिक दशा तथा उपज के अनुकूल है यह कार्य उस युग में महान् कलाकार प्रसाद की कृतियों द्वारा हुआ—विशेषत: उनके महाकाव्य कामायनी द्वारा। मनु जब तक हृदयवादी संस्कृति की प्रतीक श्रद्धा को छोड़ बुद्धिवादी संस्कृति की प्रतीक इड़ा के मोहपाश में रहता है—तब तक उसका कल्याण नहीं होता।

कामायनी की रचना उन क्षणों में हुई जब भारतीय तथा विदेशी संस्कृति का द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर था। भारतीय वेश रहन-सहन, सभ्यता, धर्म, संस्कृति आदि से शिक्षित लोगों की आस्था हट चुकी थी। ग्राम के अशिक्षित अनपढ़ लोग उसकी (भारतीय संस्कृति की) अव्यावहारिक ह्रासोन्मुखी रूढ़ियों की उपासना कर रहे थे। विदेशी ढग, वेश, भूषा, सभ्यता, संस्कृति को, सभ्य कहे जानेवाले लोग श्रेष्ठ मान रहे थे। कुछ थोड़े से भारतीय, जो भारतीय संस्कृति के वैज्ञानिक स्वरूप को समझते थे, वे निराशावाद एव दु खवाद में अभिभूत थे। ऐसी अवस्था में भारतीय संस्कृति के प्रति विश्वास उत्पन्न करना, उसके प्रगति-गामी पक्ष को समझाना, युगधर्म के अनुरूप उसके विकसित स्वरूप को स्पष्ट करना, उसकी अद्वितीयता के तत्त्वों को अलग करना, उसके प्रभावित या परिवर्तित होनेवाले तथ्यों का विश्लेषण करना एक महान् राष्ट्रीय कार्य था। इस महान् राष्ट्रीय कार्य को कवि प्रसाद अपनी कृतियों द्वारा मौनरूप से कर रहे थे जिसकी पूर्णाहुति उन्होंने अपनी अन्तिम कृति कामायनी द्वारा की।

एक संस्कृति जब दूसरी संस्कृति पर शान्ति से प्रभाव डालती है और दूसरी संस्कृति से शान्ति से प्रभाव ग्रहण करती है तो इससे दोनों संस्कृतियों के अनुयायियों का कल्याण होता है किन्तु यह कार्य जब बलात् किया जाता है तब द्वन्द्व, कलह, अशान्ति संघर्ष आदि उत्पन्न होते है, एक संस्कृति के अनुयायी दूसरे पर भय उत्पन्न करते है। यवनों ने अपनी संस्कृति को बलात् रूप में दूसरों पर लादना चाहा इसलिए वे भय के कारण हुए। प्रसादजी भली-भाँति जानते थे किसी भी संस्कृति को सदा कल्याणकारी होने के लिए प्रगतिगामी-विशेषता का रखना

आवश्यक है। उन्हे यह बात अच्छी तरह ज्ञात थी कि एक सस्कृति, दूसरी सस्कृति पर शान्ति से ही कल्याणकारी प्रभाव डाल सकती हे। दो सस्कृतियों का शान्तिपूर्ण सम्मिलन या समन्वय दोनों को व्यापक बनाता है तथा दोनों के अनुयायियों पर कल्याण की वर्षा करता है। कवि ने इस इडा और मानव के मधुर-मिलन द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इडा बुद्धिवादी विदेशी सभ्यता की प्रतीक है और मानव आत्मवादी भारतीय सस्कृति का प्रतीक। कवि दोनों का परिणय कराकर दो सस्कृतियों का शान्तिपूर्ण समन्वय दिखाता है तथा इडा और मानव के मधुर सम्बन्ध के पश्चात् सारस्वत प्रदेश की शान्तिपूर्ण व्यवस्था एव धर्मयुक्त शासन-प्रबन्ध दिखाकर दो सस्कृतियो के शान्तिपूर्ण सम्मिलन को कल्याणकारी सिद्ध करता है। इसके विपरीत जब मनु अपनी सस्कृति को सारस्वत-प्रदेश वालो पर बलात् लादना चाहते है तब इसका परिणाम कलह, सघर्ष एव युद्ध रूप मे दिखाई पडता हे। इसके द्वारा कवि यह बताने का प्रयत्न करता है कि किसी भी सस्कृति को बलात् लादने का प्रयत्न कलह, संघर्ष एव युद्ध उत्पन्न करता है।

प्रसादजी सस्कृति का अर्थ परम्परा, पुरातनता, स्थिर या अपरिवर्तनशील पदार्थ नही लेते। ऐसा अर्थ लेने से उनकी दृष्टि मे सस्कृति का विकास रुक जायगा, समाज स्थिर हो जायगा, व्यक्तियो का मस्तिष्क संकुचित तथा अगतिगामी हो जायगा। किसी भी प्रभाव को ग्रहण करने मे असमर्थ सिद्ध होगा। इस तथ्य को श्रद्धा सर्ग मे उन्होंने बड़े ही कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है :—

"प्रकृति के यौवन का शृगार,
करेंगे कभी न बासी फूल।

मिलेगे वे जाकर अतिशीघ्र
आह उत्सुक ह उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द,
किए है परिवर्तन म टेक।

प्रकृति के समान सस्कृति मे भी देश-काल परिस्थिति के अनुसार अभिनवता का आना आवश्यक ह। जैसे मुरझाये फूल प्रकृति की शोभा नही बढा सकते उसी प्रकार किसी विशेष काल, देश, परिस्थिति के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होने वाले सस्कृति के नियम या विधान जीवन की उपासना या शृगार में किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुँचा सकते। जिस प्रकार प्रकृति, पुरातनता क निर्मोक को एक पल भी नही सहन कर सकती। उसी प्रकार समाज भी अपनी प्रगति मे बाधक सिद्ध होने वाली रूढ़िया, परम्पराओ, नियमो एवं सिद्धान्तो को त्यागने मे तनिक भी सकोच नही करता। किसी देश की सस्कृति मे दूसर देश की सस्कृति के तत्त्व मिलते रहते है, देश, काल, परिस्थिति की आवश्यकतानुसार सभी सस्कृतियो के तत्त्व, नियम विधि-विधान बदलते रहते ह, किन्तु उनके मौलिक प्राथमिक तत्त्व जो उनकी अद्वितीयता या निजी अस्तित्व के कारण होते है स्थिर रहते ह। वे प्रभावित होते हुए भी दूसरी सस्कृतियो को प्रभावित करते रहते है।

किसी देश की सस्कृति के भीतर उस देश के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक, मूल्य निहित रहते है। कोई काव्य इन सभी मूल्यो को एक साथ अपना-

कर नहीं चल सकता। काव्य की प्रकृति, सीमा, विस्तार के अनुसार उपर्युक्त मूल्यों की संख्या न्यूनाधिक हुआ करती है। काव्य के प्रयोजन एवं उद्देश्य के अनुसार विशेष मूल्यों के ऊपर बल पड़ता रहता है। महाकाव्य की सीमा एवं विस्तार, विशद होने के कारण इसमें आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सौन्दर्य सम्बन्धी आदि अनेक प्रकार के मूल्य स्थान पा सकते है। महाकाव्य राष्ट्र संस्कृति से ऊपर उठकर मानव-संस्कृति की पूर्णता को लक्ष्य मान कर चलता है। इसलिए उसमे परमोच्चकोटि के सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक मूल्य की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। पुराने आचार्यों ने इन सभी मूल्यो को चत्वारिवर्ग के भीतर रखने का प्रयत्न किया है और महाकाव्य का लक्ष्य चत्वारिवर्ग फल प्राप्ति बताया है। कामायनी मे उपर्युक्त मूल्यों की प्राप्ति का पथ श्रद्धा के चरित्र द्वारा बताया गया है। महाकाव्य मे श्रद्धा का चरित्र इस प्रकार विकसित किया गया है कि वह सतत अपने स्व का लय, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के लिए करती जाती है। इस प्रकार उसके चरित्र के विकास में जीवन के सभी प्रमुख मूल्यों की प्राप्ति का पथ दृष्टिगोचर होता है। इन विशेषताओं के कारण यदि हम श्रद्धा को, राष्ट्र, संस्कृति की आत्मा कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं। भारतीय सस्कृति के सिवाय विश्व की अन्य कोई सस्कृति श्रद्धा जैसा चरित्र नहीं उत्पन्न कर सकती। कामायनी गत भारतीय सस्कृति की विशेषता श्रद्धा के चरित्र मे विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है। भारतीय सस्कृति मे नारी परा-शक्ति के रूप मे मानी गई है। कामायनी मे श्रद्धा का जीवन-चित्र इतना दिव्य एव महान् चित्रित किया गया है कि वह सामान्य नारी जगत से ऊपर उठ कर-परा-शक्ति के रूप में दिखाई पड़ती है। श्रद्धा के स्मिति मात्र से तीनों बिन्दुओं का मिल जाना उसकी पराशक्ति का प्रमाण है।

भारतीय सस्कृति मे नारी ही प्रेम का प्रस्ताव प्रथम करती है। नारी के प्रथम रीझने मे वीरपूजा की भावना अन्तर्निहित है। इस महाकाव्य मे श्रद्धा ही प्रेम का प्रस्ताव प्रथम करती हे उसके रीझने मे वासना की गन्ध नही हे वरन् भारतीय वीर पूजा की भावना अचेतन मन से दृष्टिगोचर हो रही है। श्रद्धा के जीवन मे नारीत्व का पूर्ण विकास चित्रित है। भारतीय सस्कृति की दृष्टि से नारीत्व का चरम विकास मातृत्व मे निहित है। मातृत्व का प्रधान गुण है। विश्व के प्रति पुत्रवत् प्रेम, प्राणिमात्र के प्रति करुणा की भावना, निर्माण या सर्जना की इच्छा। ये गुण श्रद्धा मे पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। नारी का यथार्थ धर्म, भारतीय सस्कृति की दृष्टि से शुद्ध शृगार है, जो श्रद्धा के जीवन मे अपरिमेय मात्रा मे हे। भारतीय दृष्टि से नारी के लिए पतिव्रत धर्म ही आध्यात्मिक धर्म माना गया है। श्रद्धा पतिव्रता स्त्रियो मे उच्चतम स्थान प्राप्त कर सकती हे क्योकि वह स्वप्न मे भी अन्य पुरुष का ध्यान नही करती। समन्वयवाद भारतीय सस्कृति की मुख्य विशेषता है जो श्रद्धा के चरित्र में सर्वत्र दिखाई पडती है। मनु के जीवन मे जब तक समन्वय का अभाव रहा तब तक उन्हे नाना प्रकार का कष्ट सहना पडा इधर-उधर भटकना पडा, सर्वत्र अशान्ति, कलह सघर्ष का सामना करना पडा इसके विपरीत श्रद्धा को जीवन में समन्वय के कारण ही सर्वत्र शान्ति, आनन्द, विकास का प्रसाद मिला। निराशावाद या दु'खवाद भारतीय-सस्कृति की दृष्टि से अवास्तविक जीवन-तत्त्व है। श्रद्धा अपने जीवन की दुःखतम घडियो मे भी निराश नहीं होती; उत्साह नही खोती। आशा एव आनन्द का सम्बल लेकर कर्म-पथ पर आगे बढती है। भारतीय संस्कृति मनुष्य को अहंभाव एवं ऐकान्तिक स्वार्थ की सकीर्ण परिधि से ऊपर उठाती है। भारतीय सस्कृति का सच्चा

अनुयायी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे यह सोचता है कि वह अकेला या अवछिन्न नही है, उसका सम्बन्ध विश्वात्मा से है और विश्वात्मा प्राप्ति का साधन अपने को सभी प्राणियों मे और सभी प्राणियों को अपने मे देखना है। श्रद्धा अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसी प्रकार का आचरण करती हुई दिखाई देती है। भारतीय सस्कृति के अनुसार सच्चा, साधु क्षमाशील, परोपकारी, स्नेहशील एव विनयी जीवन ही वास्तविक जीवन है। श्रद्धा का सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार का है। भारतीय सस्कृति मे जीवन की सफलता उपभोग मे नही वरन् त्याग मे मानी गई है। इसी तथ्य को श्रद्धा कर्म सर्ग मे मनु को विस्तार से उस समय समझाती है जब वे जीवन के वास्तविक सुख-साफल्य को वैयक्तिक सुख सग्रह मे देख रहे थे स्पष्टता के लिए दोनो की प्रतिनिधि उक्तियों को नीचे देखिए —

मनु "तुच्छ नही है अपना सुख भी,
श्रद्धे! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम सब कुछ है।
इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी,
सतत सफलता पावे।
जहाँ हृदय का तृप्ति विलासिनि,
मधुर मधुर कुछ गावे।"

श्रद्धा "अपने मे सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।

   

रचना मूलक सृष्टि-यज्ञ यह,
यज्ञ-पुरुष का जो है।
संसृति सेवा भाग हमारा,
उसे विकसने को है॥

भारतीय जीवन मे लौकिक तथा अलौकिक का समन्वय दिखाई पड़ता है। जीवन की पूर्णता केवल भौतिकता से ही सिद्ध नही होती, उसमे आध्यात्मिकता का संयोग अपेक्षित है। कामायनी के अन्तिम तीन सर्ग—दर्शन, रहस्य तथा आनन्द जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को दिखाने के लिए ही रखे गये है। भारतीय संस्कृति मे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रत्येक परिस्थिति मे साध्य वस्तु आनन्द ही माना गया है। कामायनी मे भी जीवन का साध्य आनन्द ही निरूपित किया गया है, भारतीय संस्कृति के मार्मिक तत्त्व—अहिंसा, प्रेम, त्याग, कर्मोपभोग आदि है कामायनी मे भी जीवन की मार्मिकता अहिंसा, प्रेम, त्याग, कर्मोपभोग आदि के पालन में ही दिखाई गयी है। किलाताकुलि के पौरोहित्य से सम्पादित मनु का पशु यज्ञ आसुरी संस्कृति का प्रतीक है जो देवो मे भी फैल गई थी किन्तु देव जाति के ऋषि गण सदा इसका विरोध करते रहे। ब्राह्मण ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि असुर प्रभाव को दूर करने के लिए, आसुरी कर्मकाण्ड को दैवीरूप देने के लिए सदा यत्न होता रहा यह यत्न, श्रद्धा के पशु-यज्ञ के विरोध द्वारा दिखाया गया है। दैवी और आसुरी संस्कृतियो का संघर्ष भी कामायनी में चित्रित है। किलाताकुलि के पौरोहित्य के सम्पादित पशु-यज्ञ से इसका प्रारम्भ होता है। देवयोनि के प्रतिनिधि-मनु पर आसुरों की सांस्कृतिक विजय होती है किन्तु संस्कृति की वास्तविक रक्षिणी नारी इस असुर संस्कृति का विरोध करती है। और मनु के हिंसापूर्ण यज्ञ मे भाग नही लेती। इसके पश्चात्

श्रद्धा-मनु का सम्वाद आरम्भ होता है जो देवासुर सांस्कृतिक संघर्ष का प्रतीक है। श्रद्धा, देव संस्कृति के प्रतिनिधि रूप में लोक संग्रह का पक्ष लेकर अपने विचार प्रकट करती है और मनु असुर संस्कृति के प्रतिनिधि रूप में जड़वाद का पक्ष लेकर अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं। कवि श्रद्धा के विचारों का पक्ष लेता हुआ प्रतीत होता है इसमें उसका मन्तव्य कदाचित् भारतीय संस्कृति की परम देन लोक संग्रह के सिद्धांत को जड़वाद से श्रेयस्कर सिद्ध करना है। श्रद्धा और मनु के दाम्पत्य जीवन द्वारा कवि ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि पति पत्नी का सांस्कृतिक संघर्ष कभी सुखप्रद नहीं होता ऐन्द्रिक सुख का लोलुप व्यक्ति नारी की आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता, सच्चे प्रेम को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। मनु के राजनीतिक जीवन द्वारा कवि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक अथवा पारिवारिक जीवन को सफल तथा सुखी नहीं बना सकता वह अपने राजनीतिक जीवन में भी सफल नहीं हो सकता। कवि यहाँ भारतीय संस्कृति के भीतर निहित राजनीतिक मूल्य को प्रमाणित करता है। आधुनिक जीवन में रहकर भी वह आज के उस विषैले राजनीतिक जीवन का समर्थन नहीं करता जिसमें छल, कपट तथा धूर्तता का साम्राज्य है, ऐकान्तिक स्वार्थ साधन ही परम साध्य है, जिसका उद्देश्य राष्ट्रसंचालन नहीं, प्रजा पालन नहीं, देश समृद्धि नहीं वरन् संकुचित अहं की संतृप्ति है।

किसी देश की संस्कृति तथा साहित्य में जननी और जन्य का सम्बन्ध है। संस्कृति यदि जननी है तो साहित्य उसका जन्य। साहित्य की सार्थकता अपनी जननी के शाश्वत् तथा सामयिक— दोनों स्वरूपों के संरक्षण में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी अपनी सीमा तथा विस्तार के अनुसार दोनों स्वरूपों के

संरक्षण मे समर्थ है। कामायनी जिस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्राचीन सिद्धांतों—समरसता, आनन्दवाद, लोकसंग्रह, कर्मवाद, अहिंसा, नारीस्वातन्त्र्य आदि की उपयोगिता आधुनिक युग मे सिद्ध कर रही है, उसी प्रकार उनके सामयिक स्वरूप म परिवर्तन की आवश्यकता बता रही है, वर्तमान समाज मे प्रचलित जाति-पाँत वर्ण-आश्रम, तीर्थयात्रा नारी सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन करते हुए उनका आधुनिक व्यावहारिक स्वरूप व्यक्त कर रही है तथा साथ ही नागरिक सभ्यता एव बुद्धिवादी संस्कृति क अभिशाप को स्पष्ट कर रही है। हृदयवादी और बुद्धिवादी संस्कृति की तुलना मे हृदयवादी संस्कृति को श्रेष्ठ दिखाकर, ग्राम्य और नागरिक सभ्यता के द्वन्द्व म ग्राम्य सभ्यता को अधिक मंगलकारी बता कर, देव और असुर संस्कृतियों के संघर्ष मे अन्ततोगत्वा देव संस्कृति का उत्कर्ष दिखाकर कवि भारतीय आर्य संस्कृति की ओर अपना झुकाव विशेष रूप से दिखाता है। इस झुकाव का कारण अपनी संस्कृति का मिथ्याभिमान नहीं, उसको दैवी समझने का व्यर्थ का ढोंग नही वरन् भारतीय संस्कृति को विशेष रूप से अपनाने का कारण है प्रयोग सिद्ध की प्राप्ति, जिसका उद्देश्य है जीवन की स्वस्थ एव समुचित उपासना। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि कवि भारतीय संस्कृति की ओर विशेष झुकाव दिखाते हुए भी उसमे समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन को आवश्यक मानता है, सम्पर्क मे आनेवाली दूसरी संस्कृतियों के सत् प्रभाव को ग्रहण करने मे तत्परता दिखाता है।

किसी देश के सांस्कृतिक जीवन का अर्थ न तो केवल अतीत-सिद्धियों के उपभोग में है न केवल तत्कालीन समस्याओं के एक युगीन समाधान मे और न केवल भविष्य के अभावों के दूरी करण के प्रयत्न में, वरन् इन तीनो के समन्वयात्मक संश्लेषण मे है। इस

दृष्टि से किसी देश के साहित्य में अभिव्यक्त संस्कृति का चित्र न तो केवल पुरातन की दुहाई देता है, और न केवल नवीन के प्रति विशेष आग्रह दिखाता है और न केवल भविष्य की चिन्ता में लीन रहता है, वरन् वह देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जनता की चित्तवृत्तियों को जीवन के सामयिक पक्षों की ओर आकृष्ट करते हुए पूर्णतम जीवन के पक्षों की ओर उन्मुख किये रहता है इस प्रकार वह सामाजिक नव निर्माण की आकांक्षा करते हुए जीवन के किसी पक्ष की उपेक्षा नहीं करता। कामायनी की सीमा, विस्तार एवं प्रयोजन की परिधि के अन्तर्गत आ सकने वाली प्राचीन घटनाओं, पात्रों, सिद्धान्तों के प्रयोग, उनको अभिनव रूप देने के प्रयत्न, वर्तमान के आग्रह एवं भविष्य की चिंताओं का समन्वित उद्देश्य है व्यर्थ की रूढ़ियों एवं परम्पराओं का खण्डन, अतीत की वर्तमानोपयोगी विचारधाराओं का प्रचार आधुनिक युग की मार्मिक समस्याओं पर प्रकाश, भविष्य की कठिनाइयों का सांकेतिक समाधान और इन सब का प्रयोजन है समाज का पुनः संगठन तथा नवनिर्माण जिससे जीवन के शोषण एवं विषमतायें अपसारित हो सकें।

कुछ लोग भारतीय संस्कृति का अर्थ, परम्परा-प्रेम या रूढ़ि उपासना लेते हैं, कुछ उसे हिन्दूराष्ट्रवादी भावना कहते हैं, कुछ उसे भारत की सामन्तवादी विचारधारा का प्रतीक समझते हैं, कुछ उसे प्रतिक्रियावादी विचारधारा की उपासना कहते हैं, कुछ उसे प्रतिगामी विचारधारा कहकर ठुकराते हैं। अगर हमें कामायनी के अन्तर्गत वर्णित भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर विचार करना है कि वह कहाँ तक उपर्युक्त दोषों से रहित है और कहाँ तक उनके सहित? वह स्वरूप इस महाकाव्य को प्राणवान बनाता है अथवा निस्तेज? वह उसे एक युग अथवा देश की सीमा

में आबद्ध करता है अथवा उसे सार्वयुगीन तथा सार्व-भौमिक बनाता है ?

कामायनी में किसी रूढ़ि या परम्परा का अन्ध समर्थन नहीं वरन खण्डन है और साथ ही उनका व्यावहारिक वैज्ञानिक स्वरूप बतलाया गया है। जैसे वर्ण आश्रम तीर्थाटन आदि का। कामायनी में हिन्दू या राष्ट्र का कहीं नाम नहीं है। कवि स्वयं इसे अखिल मानव भावों का सत्य मानता है। कवि ने राष्ट्र संस्कृति के उन विशद रूपों को अपनाया है जो विश्व संस्कृति के मेल में है, जिनमें सारी मानवता शरण पा सकती है जिसमें भुवनोमय अपना देश, तथा सारी वसुधा कुटुम्बवत् जान पड़ती है। श्रद्धा राज्य पाने के लिए मानव का परिणय सम्बन्ध इडा से नहीं करती वरन् मानव मात्र के नवीन भाग्योदय के लिए। इस प्रकार कामायनी में हिन्दू धर्म प्रचार या हिन्दू राष्ट्र स्थापन की भावना कहीं नहीं है। कामायनी की सांस्कृतिक विचारधारा सामन्तवादी नहीं है क्योंकि कवि युद्ध में सामन्तवादी विचारधारा के प्रतीक मनु की हार दिखाता है। प्रसादजी कामायनी में भारत की हृदयवादी संस्कृति का बुद्धिवादी विदेशी संस्कृति से समन्वय दिखाते है। उसके सत्पक्ष एवं प्रभाव को ग्रहण करते है, भारतीय संस्कृति की अगतिगामी प्रथाओं तथा विचारों का खण्डन कर उन्हें अभिनव व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। अत. कामायनी की सांस्कृतिक विचारधारा को हम प्रतिगामी या अगतिगामी नहीं कह सकते। कवि कामायनी में सदा समन्वय के सिद्धान्त को अपनाकर चलता है अतः उसकी विचारधारा प्रतिक्रियावादी नहीं कही जा सकती। कामायनी में ऐतिहासिक भूमिका पर अभिव्यंजना की सच्ची निष्ठा के साथ वर्णित जीवन का परम सत्य, परमोच्च वास्तविकता, उन्नतम, सामाजिकता,

विश्वजनीन शिवत्व उसे प्राणवान बनाता है। कामायनी के समर-सता, आनन्दवाद, बुद्धिवाद, कर्मवाद, नियतिवाद, नारी-स्वातन्त्र्य, श्रद्धा तत्त्व, प्रेम तत्व, मनरतत्त्व, परमार्थत्व तथा काम के सिद्धान्त इसे सार्वयुगीन बनाते हैं क्योंकि वे इस युग के लिए जितने सत्य हैं उतने ही भविष्य के लिए भी। कामायनी के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक मूल्य भारतवर्ष के लिए जितने उपयोगी हैं उतने ही विश्व के अन्य राष्ट्रों के लिए भी। श्रद्धा, इडा, मनु का स्वरूप जितना हमारे देश के लिए सत्य है उतना ही अन्य देशों के लिए भी। कामायनी में मानवता की भावनात्मक सत्ता हिन्दू जाति के लिए ही नहीं, हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं, वरन् सारी मानवता की रक्षा के लिए मुखरित हो उठी है। इसी लिए कामायनी भारतीय जीवन एवं भारतीय साहित्य की ही नहीं वरन् विश्व साहित्य तथा विश्व-जीवन की एक अमूल्य सम्पत्ति बन गई है।

परिशिष्ट [६]

'कामायनी में प्रसाद का व्यक्तित्व'

कामायनी में प्रसाद के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य में व्यक्तित्व का क्या अर्थ है? वह वैयक्तिक वस्तु है अथवा सामाजिक? और फिर अन्त मे उसी कसौटी पर हम कामायनी मे प्रसाद के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की सफलता अथवा असफलता पर विचार करेगे।

साहित्य मे कवि के व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्तिवाद नही, वैयक्तिक अद्भुत विशेषता नहीं, व्यक्ति वैचित्र्य नहीं, नितान्त नवीनता प्रदर्शन नही। जब कोई कवि, व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्तिवाद लगाकर कविता करेगा, तब उसकी भावनाओं, विचारधाराओं, धारणाओं, कल्पनाओ, रूपयोजनाओ, वस्तुवर्णनो आदि से पाठक या श्रोता के हृदय का कोई सामञ्जस्य नही बैठेगा। ऐसी अवस्था में दूसरे पाठक या श्रोता उसकी रचना को पढकर या सुन कर उसमे आनन्द कैसे लेगे अथवा उस ग्रहण कैसे करेगे? कोई पाठक* या समीक्षक किसी काव्य मे तभी पूर्ण आनन्द ले सकता है जब काव्य-वर्णित कवि की अनुभूति, उसकी अनुभूति सदृश होगी अथवा उसके लिए उपयोगी प्रतीत होगी। जब

---

*The critic or reader can best enjoy the creative work only when he participates in the experience of the poet as represented in the poem (Readers & the critic by Holebrook Jackson)

किसी[1] कविता की भावना या धारणा पाठक या श्रोता के हृदय से सम्बन्ध न रखकर केवल उस कवि के हृदय से ही सम्बन्ध रखेगी, तब उसमें साधारणीकरण हो ही नहीं सकता, पाठक अथवा समीक्षक उसके भावों अथवा विचारों का पुनर्निर्माण अपने हृदय में कैसे करेगा ?

कविता[2] में सामाजिकता का होना परम आवश्यक है। इसीलिए कला की सबसे बड़ी कसौटी सामाजिकता अथवा सर्व हृदय संवेदनीयता मानी गई है। कवि के व्यक्तित्व का अर्थ उसकी वैयक्तिक अद्भुत विशेषता लगाने से काव्य में विभिन्न रूप योजना अद्भुत वस्तु वर्णना, अलौकिक कल्पना को प्रश्रय देकर सहृदय पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में कुतूहल उत्पन्न किया जा सकता है—साधारणीकरण नहीं। कविता के भीतर लोक हृदय की सामान्य अनुभूति चित्रित होने से श्रोता या पाठक उसमें लीन हो सकते हैं, अपने हृदय की वस्तु उसमें पाने से ही रमण कर सकते हैं, अपनी इच्छा अनिच्छा, रुचि-अरुचि, प्रवृत्ति निवृत्ति का वर्णन पढ़कर ही उससे आनन्द ले सकते हैं। यदि कोई कवि अपनी कपोल कल्पना अथवा[3] बेपर की उड़ान द्वारा कोई ऐसी

---

1. If the poem cannot escape the personality of the poet it is impossible for the critic or the reader to recreate it for himself (Readers & the Critics)

2 Universality is absolutely essential in poetry and it is the criterion of greatest —Schelling

3. If a poet can compose a poem out of his own phantasy, a song without objective ref-

अद्भुत रचना करता है जिसका जगत और जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नही, तो उसकी रचना को कोई सहृदय पढना या सुनना नही चाहेगा, चाहे उसमे अद्भुत व्यक्तित्व की अद्भुत विशेषतायें अधिकाधिक मात्रा मे क्यो न हो। कविता इसी लिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकडा, हजारो क्या लाखो आदमी ग्रहण करे, कुछ अद्भुत बातो या वस्तुओ के चित्रण से तमाशा खडा करने के लिए नही।

कवि के व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्तिवैचित्र्य लेने से कवि जीवन-सत्य की उपलब्धि के लिए नही, जगत की वास्तविकता की खोज के लिए नही, सामाजिक कल्याण अथवा व्यवहार-विदता के लिए नही, राष्ट्रीय संस्कृति की प्रगति के लिए नही, मानवता की रक्षा के लिए नही, अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, नही रचना करेगा, वरन् सदा दूर की कौडी लाने के लिए, विचित्र कल्पनाओ के प्रदर्शन के लिए, अद्भुत अलङ्कार छटा दिखाने के लिए रचना करेगा और काव्य के ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द को उस हलके आनन्द मे परिणत कर देगा, जिसकी प्रवृत्ति का अभ्यास पडने से लोग भडकीली, विलक्षण और अद्भुत वस्तुओं को देखने जाते है। कवि के व्यक्तित्व के इस स्वरूप को स्वीकार करने से श्रोता और पाठक तमाशबीन तथा साहित्यकार तमाशा दिखानेवाले के रूप मे प्रकट होने लगेगे। कुछ लोग काव्य मे व्यक्तित्व का अर्थ नवी-

---

-erence then he may reveal his personality but such poems are not the expression of the poetic spirit. —Schiller.

नता का दिग्दर्शन अथवा मौलिकता का प्रदर्शन समझते है। ऐसी अवस्था मे कवि सामान्य व्यक्ति न होकर असामान्य व्यक्ति का रूप धारण कर लेगा, और वह सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा सामयिक साम्य को व्यक्त करने मे असमर्थ सिद्ध होगा। वह काव्य की स्वाभाविक उमङ्ग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुल दिखाई पड़ेगा, और उसमे सफलता प्राप्त करने के लिए अद्भुत शब्द-योजना तथा निराली कल्पना की सृष्टि के लिए प्रयत्न करेगा, तब उसकी कविता सामान्य स्वस्थ व्यक्ति की विशेषता, भावना विचार तथा कार्य को चित्रित करने मे असफल सिद्ध होगी। इससे काव्य मे नवीनता के नाम पर उच्छृ-खलता, अनर्गलता, असम्बद्धता बढेगी, मौलिकता के स्थान पर नवीन तथा विचित्र कल्पनाओं द्वारा ऐसी विचित्र रूप योजना तथा व्यापार योजना होगी कि उसका जगत और जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा।

काव्य अथवा साहित्य का सम्बन्ध मुख्यत: भावों से है जो जगत अथवा जीवन की किसी परिस्थिति से इन्द्रियसन्निकर्ष-स्थापन द्वारा उत्पन्न होते है। भावों के उद्बुद्ध होने की परिस्थिति एकान्त मे नही प्राप्त की जा सकती, वह लोक अथवा समाज के भीतर ही प्राप्त होती है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि भावों के उद्बोधन के लिए कवि को समाज अथवा लोक के सम्पर्क में आना आवश्यक है। साहित्यिक शब्दो मे इसे हम यों कह सकते है कि कवि को अपने व्यक्तित्व के निर्माण के लिए सामाजिक बनना आवश्यक है। आचार्य "शुक्ल" के शब्दों मे "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो। जो अनेक विशेषताओं तथा विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।" जिसमे लोक हृदय को पहचानने की शक्ति नहीं, जिसमे

मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देखने की दृष्टि नहीं, वह भला लोक-सामान्य हृदय के योग्य आलम्बन ढूँढ़ने में समर्थ कैसे हो सकता है? साहित्य की आत्मा रस है, वह 'भग्नावरणचित'* है, इसी को दूसरे शब्दों में लोक-चेतना अथवा सामाजिकता कहते हैं। जो कवि अपने वैयक्तिक स्व को विश्वात्मक स्व में जितना अधिक परिणत कर सकेगा वह उतना ही अधिक इस लोक चेतना के चित्रण में समर्थ होगा। डा० मेकेञ्जी के शब्दों† में कवि का सच्चा व्यक्तित्व लोक चेतना के रूपात्मक निरूपण में निहित है। काव्य के वर्ण्य—सत्य, शिव, सुन्दर का सम्बन्ध सारी मानवता एवं शाश्वतता से है, किसी एक व्यक्ति अथवा काल से नहीं। जिस कवि का व्यक्तित्व जितना अधिक सामाजिक अथवा विश्वात्मक होगा उसको काव्य के वर्ण्य की उतनी अच्छी पहचान होगी। इससे भी यही सिद्ध हुआ कि कवि के व्यक्तित्व के निर्माणकारी तत्त्व सामाजिक अथवा लौकिक ही होते हैं। कवि की आत्मानुभूति, मूल रूप में उसके हृदय से सम्बन्ध रखते हुए भी व्यवहार रूप में पाठक की है। अतः यदि कोई कवि अपनी अनुभूति को पाठक मात्र की अनुभूति बनाना चाहता है तो उसे अपने व्यक्तित्व को सामाजिक बनाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होगा। कवि की कल्पना का निर्माण रूपात्मक जगत के विविध रूप-तत्त्वों से ही होता है और इसी की रूप गति से उसके भीतर नाना प्रकार के भावों, विचारों तथा अनुभूतियों की सृष्टि होती है। कवि-वर्णित चिन्ता, लज्जा, श्रद्धा, काम, वासना, आशा, संघर्ष,

---

* रसगंगाधर

† True individuality of the poet is concrete universality —Process of Literature

सौन्दर्य इत्यादि की भावनाएँ तथा विचार बाहरी रूपों, परिस्थितियों तथा व्यापारों के निरीक्षण अथवा अध्ययन से ही निर्मित हुए है। काव्य-चित्रित प्रेम, करुणा, क्रोध, भय, आश्चर्य, माधुर्य, आध्यात्मिकता आदि के आलम्बन भी इसी रूपात्मक जगत के विविध तत्त्वों की समष्टि द्वारा निष्पन्न हुए है। जब कवि की आँखे विश्व निरीक्षण मे लीन रहती है, तब रूप, बाहर प्रतीत होते हे; जब कवि की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, तब रूप भीतर दिखाई पडने लगते हे। वस्तुत. कवि के बाहर-भीतर, चेतन-अचेतन, अर्द्धचेतन मन मे भी रहता है यह रूपात्मक जगत ही। स्वानुभूति-निरूपक और बाह्यार्थ-निरूपक—काव्य के दो भेद बहुत ही स्थूल दृष्टि से किए गए हैं। सभी प्रकार की मनोवृत्तियाँ विचार या भाव रूप होकर ही मन से उठते हैं। काम की भावना जगने का अर्थ काम के आलम्बन का मन मे आना ही है। अँगरेजी साहित्य के आधुनिक प्रसिद्ध समालोचक अबर क्राँबी के शब्दों मे काव्य का लक्ष्य प्रेषणीयता है। प्रेषणीयता का अर्थ है कवि की अनुभूति को सहृदय पाठक अथवा श्रोता गण के हृदय तक पहुँचाना। इसके लिए दो बातें आवश्यक है —प्रथम कवि की अनुभूति का उसके व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर लोक सामान्य भाव-भूमि को पहुँचना। दूसरे, अनुभूति-प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा का चुनाव। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि उपर्युक्त दोनों बातों को, अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक सामाजिक बनाने से ही प्राप्त कर सकता है। अन्तर्वृत्ति निरूपक अथवा स्वानुभूति परक काव्यों मे भी कवि जिस भावना, विचार, धारणा, घटना, परिस्थिति, पात्र आदि का वर्णन करता है, उन्हे वह अपनी किसी ऐकान्तिक दुनिया से नही प्राप्त करता, वरन् वह समाज में रह कर लोक निरीक्षण अथवा अध्ययन के बल पर ही प्राप्त करता

है। टी० यस० ईलियट के अनुसार कवि का मस्तिष्क समाज-गत विविध भावनाओं, विचारों, धारणाओं, प्रतीकों, कल्पनाओं, शब्दों, मुहावरों आदि का संग्राहक एवं संयोजक स्थान है जिसके समन्वित रूप से कवि किसी कलात्मक कृति का निर्माण करता है। तात्पर्य यह है कि जगत और जीवन के वस्तु-सम्पर्कों की निर्मिति से अलग कवि के व्यक्तित्व की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। कवि का व्यक्तित्व कोई निश्चित अथवा स्थिर केन्द्र-बिन्दु नहीं है। उसमें, कवि के अनुभव, अध्ययन, निरीक्षण, शिक्षण आदि से परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा परिष्कार होता रहता है। इसी कारण एक ही कवि की पूर्ववर्ती रचनाओं से उसकी उत्तरकालीन रचनायें अधिक प्रौढ, व्यवस्थित एवं व्यापक दृष्टि कोण से परिपूर्ण रहती है। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी सभी प्रकार की अनुभूतियों, विचारों, धारणाओं, कल्पनाओं, दृष्टिकोणों, प्रवृत्तियों, अध्ययनों, निरीक्षणों, अभ्यासों, आदतों, स्मृतियों, कार्यों, चेष्टाओं आदि का हाथ रहता है, यह दूसरी बात है कि सबकी अभिव्यक्ति कवि की किसी एक ही कृति में न हो सके।

अब हमें देखना चाहिए कि कामायनी में प्रसाद के किन विचारों, अनुभूतियों, धारणाओं, कल्पनाओं, दृष्टिकोणों, प्रवृत्तियों, निरीक्षणों, अध्ययनों, अभ्यासों आदि की अभिव्यक्ति हुई है और वह किस प्रकार की है। महाकाव्य बाह्यार्थ निरूपक काव्य होता है अतः इसमें कवि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से ही कर सकता है। महाकाव्य के प्रमुख पात्र, घटनायें, परिस्थितियाँ आदि प्रायः इतिहास अथवा पुराण से ली जाती हैं फिर भी उनके चुनाव, योजना तथा अभिनन– रूप प्रदान में कवि का व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष रूप से कार्य

करता ही रहता है। इसलिए एक ही प्रकार की घटना, पात्र, परिस्थिति को लेते हुए भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व वाले कवि उन्हे विभिन्न प्रकार का रूप प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, राम और कृष्ण को लेकर हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य मे बहुत से काव्य लिखे गये किन्तु कवियों के व्यक्तित्व की भिन्नता के अनुसार दोनों नायकों का चरित्र सभी काव्यों मे भिन्न भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ता है। कवि के व्यक्तित्वों मे भिन्नता का कारण उनके सम्पूर्ण चरित्र की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं जो उनके विभिन्न प्रकार के अध्ययन, अनुभव, निरीक्षण, शिक्षण एवं परिस्थिति की भिन्नता के कारण अलग अलग कोटि की हो जाती है। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि कवियों के व्यक्तित्व को अलग करने वाली ये महत्वपूर्ण विशेषतायें; चाहे उनमें जन्मजात हो अथवा उपार्जित—सबका सम्बन्ध समाज अथवा वातावरण से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपेण रहता ही है।

प्रसाद का अतीत बहुत ही भव्य था। उनके पितामह बहुत ही धनी, उदार, काव्य-रसिक एवं दान में काशी नरेश की बराबरी करने वाले थे। यदि उनका अतीत इतना भव्य न होता तो वे अतीत वृत्तों तथा पात्रों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल न होते, अपने नाटकों तथा काव्यों में वे अतीत वृत्तों को न लेकर प्रेमचन्द के समान वर्त्तमान में ही अपने को केन्द्रित करते; तब वे कामायनी जैसे महाकाव्य के प्रणयन की ओर उन्मुख ही न होते, और यदि होते भी, तो उनमें भारत की पुरानी संस्कृति के गुणगान में इतने सफल न होते। किशोरावस्था में ही उनके पिता, माता तथा बड़े भाई तीन चार वर्ष के ही अन्तर से स्वर्गवासी हो गये। जीवन में दो बार पत्नी वियोग भी सहना पड़ा। बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् प्रसादजी कर्ज आदि से लद गये।

इस प्रकार उन्होने अपने प्रत्यक्ष जीवन मे करुणा का प्रलय-प्रवाह देखा था। उन्हे चिन्ता-पूर्ण जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी। इसी लिए व कामायनी मे चिन्ता का मार्मिक वर्णन करने मे सफल हुए। यदि प्रसादजी अपने व्यावहारिक जीवन मे समरसता-स्थापन मे समर्थ न होते, यदि वे अपने सुख-दुख, मान-अपमान, लाभ-हानि, सफलता-असफलता,—सभी स्थितियो में आनन्द अनुभव करने की प्रवृत्ति न बनाये होते तो कामायनी मे साध्य रूप मे आनन्दवाद का तथा उसके साधन रूप मे समरसता का प्रतिपादन न हुआ होता। यदि कामायनीकार धार्मिक दृष्टि से शक्ताद्वैत मतानुयायी न होते तो महाकाव्य में आनन्दवाद तथा समरसता का रूप कुछ दूसरा ही होता। प्रसादजी के जीवन मे कुछ ऐसी कारुणिक घटनायें घटी जिनके ऊपर व्यक्ति रूप मे उनका कोई अधिकार नहीं था जैसे, किशोरावस्था मे ही माता, पिता, बडे भाई की मृत्यु, कुछ काल पश्चात् ही दो पत्नियो का चिरवियोग तथा अन्त मे प्रेम की निराशा। इन नैराश्य जनक विवश परिस्थितियों मे आत्म-सतोष के लिए उन्हे भाग्यवादी बनना पडा। यदि वे अपने जीवन मे नियतिवादी न होते तो कामायनी मे नियति-तत्त्व का कदाचित् समावेश ही न हो पाता यदि होता भी तो उसका स्वरूप कुछ दूसरा ही होता। यदि उन्होने अपने जीवन मे श्रद्धा तत्त्व का दर्शन परम सत्य के रूप मे न किया होता तो वे अपने महाकाव्य के साध्य-आनन्दवाद को श्रद्धामूलक न बना पाते। प्रसादजी के जीवन मे यदि भावुकता की इतनी अधिक मात्रा न होती तो कदाचित् कामायनी का स्वरूप भावात्मक न होकर कुछ और ही प्रकार का होता। युवावस्था तक आते आते प्रसादजी ने काफी धन कमा लिया था। उनका जीवन वैभव सम्पन्न हो गया था। वैभव मे विलासिता

का आना स्वाभाविक है। अतः उसका भी प्रवेश प्रसादजी के जीवन में हुआ, परन्तु बहुत शीघ्र ही उन्होंने उससे अपने को अनासक्त कर लिया। तात्पर्य यह कि उन्हें जीवन में विलासिता तथा वैभव की प्रत्यक्षानुभूति हुई थी। इसी आधार पर वे देव सृष्टि के वैभव, समृद्धि एवं विलासिता के वर्णन में समर्थ हुए। प्रसादजी अपने आरम्भिक-कवि-जीवन से ही प्रेम के कवि दिखाई पड़ते हैं। चित्राधार, कानन कुसुम, प्रेमपथिक, झरना आदि प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेम ही वर्ण्य विषय के रूप में प्रधानता पाता हुआ दिखाई पड़ता है। उनके नाटकों, कहानियों तथा उपन्यासों में भी सभी मुख्य पात्र प्रेमी रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्रेम का ही द्वन्द्व उनके कथा साहित्य में अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित करता है। आँसू के पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि की अल्हड़ जवानी में प्रेम की घटना घटी थी। लौकिक प्रेम की सफलता में निराश होने के कारण उन्हें उसको उदात्त स्वरूप देना पड़ा। यदि उनके जीवन में प्रेम का उदात्तीकरण इस प्रकार न हुआ होता तो कदाचित् कामायनी में प्रेम का इतना विशद स्वरूप चित्रित न हो पाता। कामायनी के निर्माण में प्रसादजी के अध्ययनशील व्यक्तित्व का बहुत बड़ा हाथ है। कामायनी के आरम्भ में कवि लिखित, प्रस्तावना इस बात को स्पष्ट बता रही है कि उसने अपने महाकाव्य की रचना के लिए ऋग्वेद, पुराण, उपनिषद्, शतपथ-ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत् आदि प्राचीन आर्य ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। कामायनी के कथानक, दर्शन तथा पात्रों के स्वरूप-निर्माण में प्रसादजी के अध्ययन का सबसे अधिक कार्य दिखाई पड़ता है। कथानक के मूलाधार ग्रन्थों पर विचार करते समय यह बताया जा चुका है कि कवि को कथा सामग्री जुटाने के लिए किस प्रकार वेदों, पुराणों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, महा-

भारत आदि आर्य-वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं आलोडन करना पड़ा। पात्रों के स्वरूप निर्माण के लिए, कथा-सविधान मे सहायता करनेवाले ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का अनुशीलन करना पड़ा—जैसे मनुस्मृति, त्रिपुरा रहस्य आदि। कामायनी मे त्रिपुरो की कल्पना तथा श्रद्धा के स्मिति-मात्र से तीनो के मिलने की प्रतीकात्मक व्यजना त्रिपुरा रहस्य के अध्ययन के आधार पर है। कामायनी की दार्शनिक सिद्धि के लिए कवि को शैवागम के प्रत्यभिज्ञान दर्शन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थो का अध्ययन करना पड़ा। कामायनी के दार्शनिक सिद्धान्तों मे उनके अध्ययन, चिन्तन तथा मनन का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पडता है। प्रसाद अपनी कवि-जीवन यात्रा के आरम्भिक क्षणों मे भले ही कुछ वैयक्तिक रहे हों पर ज्यो-ज्यों समाज से उनके कवि का सम्पर्क बढता गया, त्यो-त्यो उससे उनका रागात्मक सम्बन्ध बढ़ता गया और तदनुसार उनके व्यक्तित्व मे से वैयक्तिक तत्त्व हटता गया, शनै शनै वह इतना विकसित हुआ कि उसके द्वारा वे युग, देश, सस्कृति तथा अन्ततोगत्वा मानवता की आत्मा को अनुभव करने मे समर्थ हुए। इसी लिए उनकी अन्तिम रचना कामायनी, मानवता की पुकार को प्रतिध्वनित करने मे समर्थ हुई तथा विश्व की निर्माणकारी शक्तियो को कलात्मक अभिव्यक्ति देने में सफल। प्रसादजी मे, वर्तमान की सापेक्ष्य दृष्टि से, अतीत को देखने की क्षमता थी तथा वर्तमान एव भूत मे जन्य-जनक-सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कल्पना। इसी लिए वे प्रागैतिहासिक नाम से अभिहित भारत की ऐतिहासिक सामग्री को प्रदीप्त करने मे समर्थ हुए तथा उसके द्वारा भविष्य की ओर ज्योति विकीर्ण करने मे सफल। यदि उनमे वर्तमान से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति न होती तो वे कामायनी मे अतीत वृत्तों, पात्रों,

परिस्थितियो को लेकर युग समस्याओं को सुलझाने की ओर उन्मुख न होते। यदि उनका व्यक्तित्व वातावरण तथा युग की उपज होते हुए भी उससे महान न होता तो कामायनी मे युग की समस्याओं का समाधान सार्वकालिक तथा सार्वभौम रूप मे न होता। स्कूल छोड़ने के पश्चात् से ही प्रसादजी ने घर पर पण्डित रखकर सस्कृत भाषा के साहित्यिक, दार्शनिक ऐतिहासिक, पौराणिक आदि विविध प्रकार के ग्रन्थो के अध्ययन, चिन्तन, एव मनन का अभ्यास किया था। यदि उनके व्यक्तित्व में सस्कृत भाषा एव साहित्य के अध्ययन का इतना अनुराग न होता तो कामायनी की भाषा इतनी प्राञ्जल तथा सस्कृत-मयी न बन पाती। प्रसादजी मुख्यत. वेदना एव करुणा के कवि थे। उनके जीवन भर की करुणा एवं वेदना, जो विश्व-हृदय की तड़पन, पीड़ा एव व्यथा को दूर करने के लिए अनुक्षण उन्मन थी वह कामायनी में श्रद्धा के रूप में प्रकट हुई है। प्रसाद के जीवन मे अनुभूति की अत्यधिक सचाई थी। इसी लिए वे कामायनी में जीवन के परम सत्य—आनन्द का दर्शन करने मे समर्थ हुए है। कामायनीकार मे अभिव्यञ्जना की सची निष्ठा थी। इसी लिए उनके महाकाव्य मे मार्मिक भावुकता के साथ स्वाभाविकता के दर्शन होते है। प्रसादजी मे वर्ण्य विषय की भावमय सत्ता की गहराई मे आकण्ठ डूबने की क्षमता थी, इसी लिए वे कामायनी को प्रगीत काव्य की आत्मा से मुखरित करने मे सफल हुए है। उनमें वर्ण्य विषय के साथ चरमतल्लीनता प्राप्त करने की विशेषता थी इसी लिए वे श्रद्धा-मनु की लघु कथा को भी महाकाव्य का रूप देने में समर्थ हुए है।

कवि के व्यक्तित्व का निर्माण, उसके प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूतियाँ, घटनाये, परिस्थितियाँ, चारित्रिक विशेषताएँ, व्यावसा-

थिक गुण, अध्ययन, चिन्तन आदि ही नही करते, वरन उसमे उसके जीवन के निरीक्षण एव जीवन-सम्बन्धी विविध प्रकार की दृष्टियो का भी हाथ रहता है। अत कामायनी मे प्रसाद के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर विचार करने के प्रसङ्ग मे, उनके जीवन-निरीक्षण एव विविध प्रकार की जीवन-सम्बन्धी दृष्टियां की अभिव्यक्ति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। सृष्टि-निरीक्षण तथा जीवन-सम्बन्धी दृष्टियों की अभिव्यक्ति प्रगीत काव्य मे प्रत्यक्षरूप से होती है, किन्तु प्रबन्ध काव्य मे अप्रत्यक्षरूप से ही। प्रबन्ध काव्य होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति, कामायनी मे अप्रत्यक्ष रूप से हुई है। प्रसाद के सृष्टि-निरीक्षण की अभिव्यक्ति, नारी के रूप तथा भाव वर्णन मे, प्रकृति-चित्रण मे, मनु की उद्भ्रान्त प्राकृति तथा स्वच्छन्द-प्रवृत्ति के अङ्कण मे, सारस्वत नगर के वर्णन मे तथा कल्पित घटनाओं की सृष्टि मे दिखाई पड़ती है। श्रद्धा तथा इड़ा क रूप वर्णन मे भारतीय तथा योरोपीय नारी क रूप-सौन्दर्य-निरीक्षण का प्रभाव दिखाई पड़ता है। लज्जा सर्ग को पढने क पश्चात् यह विदित होता ह कि कवि ने किसी भारतीय हिन्दू नारी की लज्जा करते हुए उसकी प्रत्येक आङ्गिक चेष्टा, क्रिया एव आतरिक मनोवृत्ति को, बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। कामायनी मे प्रकृति वर्णन की देशगत, कालगत, विशेषता इस बात को स्पष्ट घोषित करती है कि उन्होने प्रकृति को निकट से देखने का अवसर प्राप्त किया था। प्रसादजी ने प्रकृति को निकट से देखा ही नही था वरन् उससे रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया था। उन्हे पुष्पो से अधिक प्रेम था। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा सा बगीचा लगाया था। उसमें तरह तरह के फूलो की क्यारियाँ बनी थी कभी-कभी वे फूलो को अपने हाथ से सींचते थे। गुलाब, जूही, पारि-

जात, बेला, रजनीगन्धा आदि जब फूलते तो उन्हे प्रसादजी मुग्ध होकर घएटो निहारा करते थे। पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चौकी थी। उसी पर बैठ कर वे अपनी रचनाओं को प्राय: सुनाया करते थे। प्रात काल वे प्रायः बेनिया बाग मे प्रकृति की गोद मे टहलते हुए कुछ गुनगुनाते हुए दिखाई पड़ते थे।

मनु के हृदय मे उठते हुए अन्धड़, उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति तथा उद्भ्रान्त प्रकृति मे प्रसाद-कालीन भारतीय नवयुवक के उद्भ्रान्त जीवन की छाया दिखाई पडती है। इससे यह जान पड़ता है कि मनु सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन की अनुभूति कवि को अपने युग के उद्भ्रान्त नवयुवको की स्वच्छन्द प्रकृति, चेष्टा, क्रिया आदि के निरीक्षण से प्राप्त हुई थी। शारीरिक या भौतिक सुख के साध्य मानने वाले व्यक्ति किस प्रकार सभी प्राणियों को कष्ट देते है, सबके साथ कटु व्यवहार करते है, जगती को दीन बनाते है, वासना-तृप्ति को स्वर्ग मानते है, अपने सुख-साधन मे जो क्षण व्यतीत हों, उन्ही को वास्तविक मानते है, विश्व को असत् धागे मे झूलता हुआ समझते है, सबको लू सदृश झुलसाते है, आदि बातों का सूक्ष्म निरीक्षण कवि ने अपने युग मे किया था—और साथ ही यह भी अनुभव किया था कि एक दिन ऐसा आता है जब कि ऐसे व्यक्ति एकाकी छोड़ दिये जाते है, अपने किये पर अकेले रोते है, उनकी पुकार का कोई उत्तर भी नही देता। इन्हीं निरीक्षणों के आधार पर कामायनी के उत्तर कालीन मनु का वर्णन दिखाई पड़ता है। मनु के जाने पर सारस्वत नगर की स्थिति का वर्णन परतंत्र भारत की दुर्व्यवस्थाओं से मिलता-जुलता है। इससे यह प्रकट होता है कि सारस्वत नगर का पहला वर्णन पराधीन भारत के निरीक्षण के आधार पर हुआ है। सारस्वत

प्रदेश के दूसरे वर्णन मे सब तरह का वैज्ञानिक उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। सबको भौतिक सुख-साधन, सुविधा, आराम आदि प्राप्त है, पर किसी के पास मनुष्यता नहीं है। वहाँ चारों ओर शत्रुता ही शत्रुता दिखाई पडती है। उनकी सारी प्रकृति-शक्ति छीन ली गई है। चारों ओर विकृति ही दृष्टिगोचर हो रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि उपर्युक्त वर्णन मे अपने वैज्ञानिक युग की स्थितियो के निरीक्षण से प्रभावित दिखाई पड़ता है। कामायनी की बहुत सी कल्पित घटनाये कवि के वैयक्तिक निरीक्षण के अधार पर बनी हैं। जैसे,—निर्बाधित प्रेम की चाह मे मनु की भागने वाली घटना उस युग की स्वच्छन्द प्रेम की घटनाओं के निरीक्षण के आधार पर बनी है। श्रद्धा के स्वप्न से सम्बन्ध रखनेवाली घटना स्वप्न मे आने वाली घटनाओं की यथार्थता के अन्वीक्षण के आधार पर निर्मित हुई है।

कामायनी लिखने की प्रेरणा कवि को समाज मे हृदय तत्त्व की कमी की अनुभूति तथा उसके परिणाम की कटुता के निरीक्षण से ही प्राप्त हुई थी। इस पुस्तक के पूर्ववर्ती अध्यायो मे विविध प्रसंगों में यह बताया जा चुका है कि कामायनी मे प्रसाद की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, सास्कृतिक दृष्टियाँ किस प्रकार वर्तमान है। उनमे से काम, कर्म, प्रेम, तप नारी, नियति, सौन्दर्य परमार्थ-तत्त्व, श्रद्धा-तत्त्व विषयक-विचार कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मे विशेष सहायक हुए है।

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह निकला कि कामायनी के बाह्यस्वरूप तथा अन्तःस्वरूप, साधन तथा साध्य—सबके निर्माण मे कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई पडता है। महाकाव्य के भावात्मक स्वरूप, उसके निर्माण की मूल्य प्रेरणा, काव्यगत अनुभूतियों के चित्रण, वस्तुवर्णन के प्रकार, भाव-व्यञ्जना की पद्धति,

पात्रों की कल्पना, कथाओं की योजना, नवीन घटनाओं की सृष्टि—सबमें कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि के व्यक्तित्व का स्वरूप सर्वत्र सामाजिक है, वह राष्ट्रीय होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भी है। व्यक्तित्व का तत्त्व एक महाकवि को दूसरे महाकवि से अलग करता है। इस दृष्टि से यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रसाद का व्यक्तित्व अन्य महाकवियों से उन्हे किस प्रकार अलग कर रहा है। संक्षेप से इसका उत्तर यही है कि कामायनी मे प्रसाद का व्यक्तित्व रोमांटिक कहा जा सकता है जो उन्हे तुलसी, केशव, गुप्त, हरिऔध आदि महाकवियों से अलग करता है। कवि का सच्चा व्यक्तित्व लोक-सामान्य-भावों, विचारों रुचियों, एव आदर्शों की प्रतिष्ठा मे निहित है, अर्थात् लोक सामान्यगत आलम्बन को खडा करने में है। इस कार्य मे वही कवि सफल हो सकता है जो जीवन के शाश्वत तत्त्वों को पहचानने की शक्ति रखता है, जो अपने निजी जीवन मे किसी प्रकार का असामाजिक तत्व नही रखता तथा जो अपने व्यक्तित्व मे से व्यक्ति वैचित्र्य की मात्रा लोप करने मे समर्थ होता है। कामायनी मे जीवन के सामाजिक शाश्वत आत्म-तत्वों को चित्रित देखकर कौन नहीं कह सकता कि इस महाकाव्य मे प्रसाद, कवि के सच्चे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुए हैं। जिन जिन महान कवियो ने जिन जिन देशों मे जब जब कवि के सच्चे व्यक्तित्व की प्राप्ति मे सफलता प्राप्त की है, वे सभी मानवता के प्रतीक थे, किसी व्यक्ति वैचित्र्य के नहीं। व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रसाद की गणना भी इन्ही महान् कवियो मे होनी चाहिए। महाकाव्य का साध्य है—मानव जीवन की परमोच्च वास्तविकता का चित्रण। इस परमोच्च वास्तविकता की अनुभूति के लिए कवि को समाज-विछिन्न-व्यक्ति-तत्वों से

ऊपर उठने की आवश्यकता है ? मानव-जीवन की परमोच्च वास्तविकता—आनन्द को, कामायनी के साध्यरूप में चित्रित देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रसाद का व्यक्तित्व इस महा-काव्य को लिखते समय समाज के विछिन्नकारी व्यक्तितत्वों से ऊपर उठ गया था, मानवता की परमोच्च भूमि मे रमण कर रहा था एव मन तथा आत्मा की दिव्यतम शक्तियो की अनुभूति मे समथ हो गया था।

उपसंहार रूप में यह कहा जा सकता है कि कामायनी 'प्रसाद' के पूरे जीवन एव उनकी सम्पूर्ण कर्त्तृत्व शक्ति की सश्लेषणात्मक समन्विति उपस्थित करती है। उसमे कवि के निश्शेष व्यक्तित्व का आत्मनिवेदन वर्त्तमान है। व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रसाद की अन्य कृतियाँ काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि कामायनी की भूमिका मात्र हैं। इस महाकाव्य मे कवि का व्यक्तित्व उसकी, अन्य पूर्ववर्ती रचनाओ से अधिक दृढ़, परिपक्व, व्यवस्थित एव व्यापक रूप को प्राप्त हो गया है। इसके दार्शनिक सिद्धान्त तथा अन्य जीवन सम्बन्धी विचार, जैसे :—आनन्दवाद समरसता के सिद्धान्त, श्रद्धा-तत्त्व, प्रेमतत्त्व, काम का स्वरूप, नारी विषयक धारणा, कर्म सम्बन्धी विचार, परमार्थतत्त्व, सौन्दर्य की कल्पना, नियतिवाद आदि के बीज उनकी अन्य पूर्ववर्ती कृतियों मे भरे पड़े है किन्तु उनका स्वरूप उतना व्यापक नहीं है, जितना कामा-यनी में। प्रसाद का व्यक्तित्व उनकी सर्जनात्मक शक्ति एवं दार्शनिक दृष्टि के विकास के साथ क्रमशः विकसित होता गया है, अन्ततोगत्वा उनकी अतिम कृति कामायनी तक आते आते उनका व्यक्तित्व सारी मानवता* के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लिया

* सबकी सेवा न पराई,
यह अपनी सुख संसृति है

है, विश्व की परमोच्च वास्तविकता के साथ एकाकार हो गया है। सम्पूर्ण विश्व को अपने व्यक्तित्व में एवं अपने व्यक्तित्व को अखिल विश्व मे देखने की अनुभूति एव दृष्टि के साथ ही 'प्रसाद' कवि-व्यक्तित्व के परमोच्च स्वरूप को प्राप्त करने मे समर्थ हो गए है एव अपने महाकाव्य में महाकवि के सच्चे व्यक्तित्व को अभि-व्यक्त करने मे सफल।

—————

अपना ही अणु अणु कण कण
  द्वयता ही तो विस्मृति है।
सब भेद भाव भुलवा कर,
  दुख सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे यह मै हूँ,
  यह विश्व नीड़ बन जाता।

परिशिष्ट [७]

कामायनी का महाकाव्यत्व

किसी कवि के साथ न्याय करने के लिए उसकी कृति को उसी उद्देश्य से देखना चाहिए जिससे प्रेरित होकर उसने रचना की थी। अन्तर्साक्ष्य और वहिर्साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि 'प्रसाद' कामायनी को भावात्मक महाकाव्य का रूप देना चाहते थे। (अन्तर्साक्ष्य के आधार पर हम पहले कह चुके है कि कामायनी भावात्मक महाकाव्य है।) वहिर्साक्ष्य के लिए हमें उनके लिखे हुए निबन्धों की ओर देखना पड़ता है। प्रसादजी ने काव्यकला तथा अन्य निबन्ध नामक पुस्तक मे पाठ्य काव्य वाले निबन्ध मे संस्कृत तथा हिन्दी के महाकाव्यों को बुद्धिवादी महाकाव्य कह कर उनसे अरुचि प्रकट की है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे विवेक-परम्परा के महाकाव्यों के पक्ष मे नही थे और वे भावप्रधान महाकाव्य लिखना चाहते थे। (प्रसादजी अन्य काव्यों की भाँति महाकाव्य की आत्मा भाव या रस मे मानते है और उसकी सफलता भाव विस्तार म। भाव विस्तार पर प्रमुख दृष्टि रखने के कारण कामायनी मे महाकाव्य के अन्य तत्त्व कथानक, चरित्र चित्रण, वस्तु वर्णन आदि गौण हो गये है।) इन तत्त्वो का इसमें उतना विस्तार नही है जितना हिन्दी तथा संस्कृत के अन्य पूर्ववर्ती महाकाव्यों में मिलता है। (महाकाव्यों के तत्त्वों के आधार पर उसके कई भेद किए जा सकते है; जैसे घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वर्णन-प्रधान, भाव-प्रधान।) घटना-प्रधान महाकाव्य

के भीतर पृथ्वी राजरासो की गणना होती है। उसमे कथा-तत्त्व के ऊपर कवि की विशेष दृष्टि है, इसलिए महाकाव्य के अन्य तत्त्व चरित्र चित्रण, वस्तु-वर्णना, भावव्यञ्जना आदि तत्त्व फीके पड गये है। चरित्र प्रधान महाकाव्य मे रामचरितमानस उल्लेखनीय है। इसमे चरित्र चित्रण जितना सुन्दर बन पडा है उतने अन्य तत्त्व नही। वर्णन प्रधान महाकाव्य के भीतर रामचन्द्रिका का समावेश होता है। वर्णन पर ही कवि की दृष्टि सदा रहने के कारण इसमे महाकाव्य के अन्य तत्त्व भद्दे हो गये है। कामायनी का स्थान भाव प्रधान महाकाव्यों के अन्तर्गत रखा जाता है। इस अवस्था मे भाव-वर्णन पर विशेष दृष्टि रखने के कारण यदि कामायनीकार महाकाव्य के अन्य तत्त्वों को कामायनी मे उतना रोचक नही बना सका जितने कि वे हिंदी या सस्कृत के पूर्ववर्ती महाकाव्यो मे बन पडे है तो इससे उसके महाकाव्यत्व पर कोई बाधा नहीं पडनी चाहिए क्योकि हिन्दी या सस्कृत के किसी भी महाकाव्य मे उसके सभी तत्त्व समान मात्रा मे सुन्दर नही हुए है।

प्रसाद युग की प्रवृत्तियो को देखते हुए कामायनी का प्रस्तुत रूप ही उसके लिए अधिक उपयोगी तथा अनुकूल पड़ता था। इस युग के सघर्ष, वैषम्य, शोषण, हिंसा, अन्याय, कष्ट, प्रतारणा आदि का कारण बुद्धि का भयकर अतिवाद है। इस भयकर बुद्धिवाद को दूर करने के लिए हृदय तत्त्व अथवा भाव तत्त्व के प्रसार की विशेष आवश्यकता थी। कामायनीकार ने अपने युग के बुद्धिवाद को कम करने के लिए तथा उसमे हृदय तत्त्व भरने के लिए भावात्मक महाकाव्य की आवश्यकता अनुभव की इसलिये उसे भावात्मक रूप प्रदान किया। आधुनिक युग मे गद्य वाङ्मय की वृद्धि तथा प्रगीत काव्य की बाढ के कारण महाकाव्य के लिए अपना निजी तत्त्व भाव-विस्तार ही बच गया है।

उपन्यासों ने वर्णनों पर अपना अखण्ड अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया है इसलिए अब जो लेखक वर्णन चमत्कार दिखाना चाहते हैं वे प्रबन्ध काव्य न लिखकर उपन्यास ही लिखते है। कथा-सौंदर्य दिखाने वाले कहानी का अवलम्बन लेते हैं। कार्य-व्यापार मे विशेष रुचि रखने वाले नाटक का आश्रय लेते है। विचार-वैचित्र्य प्रदर्शित करनेवाले निबन्ध लिखने मे मग्न होते है। प्रगीत काव्यकार भाव-घनत्व पर विशेष दृष्टि रखते है। इस प्रकार महाकाव्यकारो के लिए भाव तत्त्व ही उनकी निजी वर्ण-भूमि के रूप मे अवशिष्ट रह गया है। इसी से आधुनिक युग मे क्या पूर्व क्या पश्चिम —सभी देशो के महाकाव्य भाव प्रधान हो रहे हैं। (महाकाव्य की प्रकृति के अनुकूल उसके अन्तरग पक्ष के चुनाव म कवि ने जैसी दक्षता इस काव्य मे दिखाई है वैसी ही दक्षता या निपुणता उसके बहिरग पक्ष के चुनाव मे भी दिखाई पडती है।) आनन्दवाद की प्रकृति भावात्मक होती है, अतएव उसकी प्रतिष्ठा करने वाले काव्य की आकृति एव प्रकृति भी भावात्मक होनी ही चाहिये। इस सिद्धात के अनुसार (महाकाव्य के अन्तरङ्ग पक्ष-आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करने वाले काव्य, कामायनी का वहिरङ्ग पक्ष, यदि भावात्मक महाकाव्य क अनुसार रखा गया तो वह सर्वथा उचित है। महाकाव्य के वहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग पक्ष का अभिन्न सम्बन्ध कामायनी को चरित्र प्रधान या घटना प्रधान बनाने से कभी भी स्थापित न होता।)

(कामायनी के अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग दोनो पक्षों के चुनाव मे कवि के व्यक्तित्व का भी बहुत वडा हाथ है। यह ग्रन्थ उनके सम्पूर्ण जीवन के अध्ययन, मनन, चिन्तन, कल्पना, भावुकता एवं अनुभूतियो के परिश्रम का फल है।) कामायनी का दर्शन

तथा कथानक उनके अध्ययन चिन्तन एव अनुभूतियों का परि-णाम है, पात्रों का स्वरूप, परिस्थितियो की योजना, मानव-अन्तवृ त्तियो की आध्यात्मिक नियोजना तथा युग तत्त्व का समा-वेश, उनकी कल्पना एवं अनुभूति की उपज है। प्रसादजी के व्यक्तित्व मे यदि भावुकता की इतनी अधिक मात्रा न होती तो कदाचित् कामायनी का स्वरूप भावात्मक न बन पाता। प्रसाद जी मुख्यत. वेदना एवं करुणा के कवि है। उनके जीवन भर की करुणा एव वेदना जो विश्व-हृदय की तड़पन, पीडा एवं व्यथा को दूर करने के लिए अनुक्षण उन्मन थी वह कामायनी में श्रद्धा के रूप मे प्रकट हुई है। अनुभूति की इतनी अधिक सचाई यदि प्रसाद के जीवन मे न होती तो कामायनी मे जीवन के परम सत्य का दर्शन उन्हे सम्भव ही न होता। अभिव्यञ्जना की सच्ची निष्ठा यदि कामायनी के कवि को न मिली होती तो इस महा-काव्य म मार्मिक भावुकता के साथ स्वाभाविकता के दर्शन ही न होते। यदि उनके जीवन का अतीत इतना भव्य तथा सुनहला न होता तो वे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक वृत्तों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ न होते। यदि उनका, संस्कृत का अध्ययन सूक्ष्म, विस्तृत तथा गम्भीर न होता तो कामायनी की सांस्कृतिक चेतना इतनी विशद् तथा वैज्ञानिक न होती। प्रसादजी यदि वर्तमान से प्रेम न करते तो वे अतीत वृत्तों तथा पात्रों को लेकर युग की समस्याओं को चित्रित करने मे समर्थ न होते। यदि कामायनीकार शक्ति अद्वैत मता-नुयायी न होते तो इस महाकाव्य में आनन्दवाद तथा सम-रसता का स्वरूप कुछ दूसरा ही होता। यदि वे अपने जीवन में नियतिवादी न होते तो कामायनी मे नियति तत्त्व का कदा-चित् समावेश ही न हो पाता। यदि वे प्रारम्भ से प्रेम के

कवि न होते तो कामायनी मे प्रेम का इतना विशद स्वरूप चित्रित न हो पाता। यदि उन्हे सस्कृत भाषा के अध्ययन, चिन्तन एव मनन का इतना अभ्यास न होता तो कामायनी की भाषा इतनी प्राञ्जल तथा सास्कृतिक न बन पाती। वर्ण्य विषय के साथ यदि उन्हें चरम तल्लीनता प्राप्त न होती तो वे कामायनी जैसे दार्शनिक एवं मगलमय महाकाव्य की रचना मे समर्थ ही न होते। यदि उनका व्यक्तित्व वातावरण तथा युग की उपज होते हुए भी उससे महान न होता तो कामायनी मे युग की समस्याओ का समाधान सार्वकालिक तथा सार्वभौम रूप मे न बन पाता। तात्पर्य यह कि (कामायनी प्रसाद के पूरे जीवन, उनके अखिल आत्मतत्त्व एव उनकी सम्पूर्ण रचनाओ की सयोगात्मक समान्विति है।) प्रसाद के व्यक्तित्व का वैयक्तिक स्व, उनकी सर्जनात्मक शक्ति एव रचना के विकास के साथ साथ क्रमशः विकसित होता गया है अन्ततोगत्वा उनकी सबसे अन्तिम कृति कामायनी तक आते आते उनका आत्मा, विश्वरूप एव विश्व, आत्मरूप हो गया है। यही कारण है कि (वे अपने महाकाव्य में सकुचित राष्ट्रीयता, एक देशीय संस्कृति, एक युगीन साहित्य आदि की सीमा से ऊपर उठ कर विश्व-जीवन, विश्वात्मा एव मानवता की परमोच्च चेतना से सबको एकाकार होते हुए देखते हैं। इसी लिए वे इस ग्रन्थ में चित्रित भारतीय राष्ट्रीयता, सस्कृति जीवन-दर्शन, साहित्य आदि मे अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व जीवन, विश्व सस्कृति, मानव दर्शन एवं विश्व साहित्य के दर्शन करा सके है।)

काव्य या साहित्य की सभी शाखाओ मे महाकाव्य का विस्तार, क्षेत्र, सीमा तथा आकर सबसे बड़ा होता है। अतएव महाकाव्य को अपनी महानता की रक्षा के लिए जीवन की महान-तम वास्तविकता को वर्ण्य विषय बनाना चाहिये, जीवन के उच्चतम

सौन्दर्य को चित्रित करना चाहिये, मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को साध्य रूप मे उपस्थित करना चाहिये, जगत एव जीवन के महान तथा चिरन्तन सत्य का तात्पर्य एव महत्त्व समझाना चाहिये, मानवता के स्थायी शिवत्व का दर्शन कराना चाहिये, विश्व जनीन चेतना का रूप स्पष्ट करना चाहिये, जिससे विश्व के अधिकाधिक लोग उसे पढकर अधिकाधिक काल तक अपने जीवन का पथ, प्रेरणा एव साध्य पा सके, उससे अपने जीवन की समस्याओं का प्रकाश प्राप्त कर सके, उससे अपनी चेतना का विस्तार कर सके एव जीवन के असामाजिक तत्त्वों को दूर कर सके। इस दृष्टि से कामायनी का साध्य, आनन्दवाद तथा उसकी प्राप्ति के साधन समरसता के सिद्धान्त, मानव जीवन के सबसे महान साध्य, उच्च आदर्श, चरम वास्तविकता एव उच्चतम पूर्णता को प्रतिष्ठित करते है। काव्य की प्रकृति के अनुकूल, आनन्दवाद से बढ़कर जीवन का दूसरा साध्य हो ही क्या सकता था। जीवन का उच्चतम सौंदर्य श्रद्धा के रूप मे चित्रित किया गया है। जीवन के चिरन्तन सत्य-श्रद्धा, सेवा, प्रेम, त्याग, कर्म, काम, आनन्द, समन्वय आदि का तात्पर्य एव महत्त्व समझाया गया है। मानवता का स्थायी शिवत्व इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के समन्वय मे बताया गया है। कामायनी को 'जगत की अकेली मगल कामना एवं विश्वचेतना का पुलकित रूप' कहकर विश्वजनीन चेतना का रहस्य स्पष्ट किया गया है। कामायनी के नायक नायिका मनु श्रद्धा की कहानी हिन्दू पुराणो, वेदों, उपनिषदो मे ही नही वरन अडम और ईव, आदम तथा हौवा के नाम से यहूदियो तथा यवनों के पुराणों मे प्रचलित है। इसलिये उनके कथानक का रूप राष्ट्र-हृदय से ही रागात्मक सम्बन्ध नहीं रखता वरन् इससे ऊपर उठकर वह विश्व-हृदय से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थन होता है कामायनी की

समस्यायें इस राष्ट्र के लिए जितनी कटु एवं जटिल है उतनी ही विश्व के अन्य राष्ट्रों के लिए भी ।) इस महाकाव्य की रूपकात्मक व्यञ्जना सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक सत्य की ओर सकेत करती है। इसके प्रमुख पात्र, श्रद्धा, इडा, मनु, मानवता के विभिन्न पक्षो के प्रतीक हैं। वस्तुतः हृदय और बुद्धि एक ही मन के भावात्मक और ज्ञानात्मक दो पक्ष हैं। इन दोनो के समन्वय से मनुष्य के व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सकता है। अनियन्त्रित बुद्धि, मन को तर्क के भ्रम-जाल मे फँसाती है, उपभोग की सरिता मे मग्न करती है। बुद्धि रहित हृदय मन के वेग मे बह जाता है और नाना प्रकार के अत्याचार कर बैठता है किन्तु मन जब हृदय और बुद्धि के मधुर सम्मिलन को लेकर जीवन पथ पर आगे बढ़ता है तब उसे शिव तत्त्व एव आनन्द का दर्शन होता है। किसी एक की कमी से भी मानव की जीवन यात्रा विकल, दु खपूर्ण एव असफल होगी। जीवन मे कल्याण एव आनन्द की सिद्धि के लिए हृदय एव बुद्धि का समन्वय इस युग के लिए, इस देश के लिए जितना सत्य एव उपयोगी है उतना ही सत्य एवं उपयोगी वह त्रिकाल तथा भुवनत्रय के लिए है। वस्तुत कामायनी की रचना मानव मन के उन सत्यों के आधार पर हुई है जो इस सृष्टि पर जीवन एव जगत के अन्धकारमय पथ के जडत्व को विदीर्ण कर मानवता को सदा शाश्वत आनन्द एव प्रकाश की ओर उन्मुख करते रहेंगे।

(यदि महाकाव्य का अन्तरग पक्ष उसकी आत्मा है तो बहिरग उसका शरीर।) महाकाव्य के आत्म तत्त्व आत्मा की भाँति शाश्वत होते हैं किन्तु उसके बहिरग लक्षण कवि के व्यक्तित्व, युग की भिन्नता तथा राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहते हैं। महाकाव्य के अन्तरङ्ग पक्ष के भीतर निम्नाङ्कित तत्त्व आते हैं:—जीवन की पूर्णता का प्रभावशाली वर्णन, नायक या नायिका के चरित्र का

उदात्तत्व, कथा का सदाश्रयत्व-जीवन की परमोच्च वास्तविकता का चित्र, जीवन की महत्ता तथा सार्थकता का प्रतिपादन, जीवन की अनन्त सम्भावनाओं का दिग्दर्शन, चतुर्वर्ग की प्राप्ति, जीवन दर्शन की भव्यता, लौकिक तथा अलौकिक, यथार्थ तथा आदर्श एवं भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समन्वय सत्-असत्, देव-असुर, लौकिक-अलौकिक का द्वन्द्व तथा अन्त मे सत् पक्ष की जीत। /महाकाव्य के शरीर तत्व के भीतर अधोलिखित तत्त्वों का समावेश होता है:—सर्ग बद्धता सर्गों का नाम करण, सर्ग सख्या तथा उनका विस्तार, मगलाचरण पात्रों की सख्या, कथानक का आधार, विस्तार एव विकास वस्तु विस्तार मे नाटक की सन्धियो का समावेश छन्द विधान, वर्ण्य विषयो की विविधता तथा विस्तार, शैली तत्त्व, किसी विशिष्ट रस की प्रधानता।' चाहे सस्कृत के महाकाव्य—रामायण, महाभारत, रघुवश, बुद्धचरित, शिशुपाल बधम्, किरातार्जुनीय को उठाइये, चाहे हिन्दी के पृथ्वीराज रासो, रामचरित मानस, रामचन्द्रिका, साकेत, प्रिय-प्रवास को देखिए, चाहे अँगरेजी के महाकाव्यो को पढ़िये—सभी मे वहिरग लक्षणों की विभिन्नता मिलेगी किन्तु उनके अन्तरङ्ग तत्त्वो मे एकरूपता विद्यमान है। कामायनी मे शास्त्र के कुछ स्थूल नियमों तथा वहिरङ्ग तत्त्वों की कुछ भिन्नता तथा न्यूनता होते हुए भी उनके अन्तरङ्ग तत्त्वो मे किसी प्रकार की कमी नही है। रीति ग्रन्थो के कुछ स्थूल नियमों के अतिक्रमण का कारण कवि की महाकाव्य रचना की नवीन पद्धति तथा शैली है। कामायनी के महाकाव्य तत्त्व की परख मे कवि के साथ ठीक न्याय करने के लिए हमे यह देखना चाहिए कि कवि अपनी नवीन पद्धति के अनुगमन मे कहाँ तक सफल हैं। काव्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुसार अनुकूल पद्धति चुनने का कार्य कर्त्ता का ही है शास्त्र

का नही क्योंकि शास्त्र मार्ग विलोकन की दृष्टि देता है मार्ग पर पद-विन्यास करना नही सिखाता। कवि के लिए रचनात्मक ग्रन्थों मे शास्त्र-सम्पादन की ही इच्छा अनभीप्सित कही गई है। यह पहले कहा जा चुका है कि कवि ने काव्य की प्रकृति तथा साध्य के अनुसार एव अपने व्यक्तित्व तथा युग की माँग के अनुकूल महाकाव्य को भावात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है। कृति के ऊपर तटस्थ निर्णय देने के लिए अब हमें यह विचार करना चाहिये कि कवि अपने इस प्रयत्न मे कहाँ तक सफल है। कामायनी मे घटनाओं, पात्रो, परिस्थितियो का चुनाव भावात्मक दृष्टि से ही अधिक हुआ है। उन्ही पात्रो, घटनाओ तथा परिस्थितियो का चुनाव कवि ने किया है जो मानव की मार्मिक अन्तर्वृत्तियो को जागृत करने मे सहायक थी जिनसे मानव-भावो का विस्तार सम्भव था। सर्गों का नामकरण, पात्रो, घटनाओ, स्थानों, परिस्थितियों के आधार पर न होकर मानवीय भावनाओं के आधार पर हुआ है। महाकाव्य मे प्रगीत शैली के अवलम्बन से भावात्मकता का पर्याप्त आधिक्य हो गया है। भावो मे तीव्रता लाने के लिए कवि ने बड़ी ही रम्य भूमिकाये बाँधी है, अत्यन्त सुन्दर वातावरण सजाये है, व्यञ्जना शैली द्वारा भाव वर्णन मे मार्मिकता का समावेश कर तथा लक्षणा द्वारा गोचरता उत्पन्न कर उसमें असीम प्रभविष्णुता भर दी है। महाकाव्य में वक्रोक्ति शैली का प्रयोग भी उसके भावात्मक स्वरूप के अनुकूल हुआ है। कामायनी मे प्रसाद की वक्रोक्ति सर्वत्र भावानुमोदित है अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से प्रेरित उनकी वक्रता मे उमड़ते हुए भावों की प्रेरणा वर्तमान है काव्य कौशल या अलकार-प्रदर्शन नही। कामायनी में नीरस या इतिवृत्तात्मक स्थल कहीं भी नहीं है। यह उसके भावात्मक स्वरूप के

सफलता का बहुत बड़ा प्रमाण है। प्रसादजी अन्य महाकाव्य-कारो की भाँति वस्तु वर्णन मे सूची उपस्थित करनेवाली शैली अथवा ब्यौरेवार वर्णन-प्रणाली का अनुगमन नही करते। उनकी वर्णन-शैली प्रगीत काव्य की भावात्मक शैली है जिसमे किसी वस्तु के उन्हीं अशों का वर्णन होता है जो अधिक से अधिक भावात्मक होते है अथवा भाव को जगा सकते है। महाकाव्य की भाषा उसके भावात्मक स्वरूप के अनुकूल सर्वत्र भावात्मक है। कहीं कहीं भाषा इतनी भावात्मक हो गई है कि वह सामान्य जनों के लिए दुरूह प्रतीत होती है। जैसे इडा सर्ग में। कहीं कही भाषा को भावात्मक बनाने के लिए कवि ने प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग किया है जैसे भूम शब्द के लिए झीम शब्द का प्रयोग।

कामायनीकार के निजी ध्येय की दृष्टि से कामायनी के महा-काव्यत्व की परख करने के पश्चात् अब महाकाव्य के सामान्य ध्येय की दृष्टि से इसके महाकाव्यत्व पर विचार करना चाहिए :— महाकाव्य के निम्नाङ्कित ध्येय माने जा सकते हैं। वेद व्यवहार को कलात्मक ढग से सार्वजनीन सिद्ध करना। 'असतो मा सत गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्युर्मामृतंगमय' को कान्ता-सम्मित ढग से करना। नायक या नायिका के चरित्र द्वारा मानव जीवन की महान् से महानतम सम्भावनाओं को व्यक्त करना। जीवन के कल्पनात्मक आदर्शों को पूर्ण करने का पथ दिखाना। जीवन की श्रेष्ठता एवं महत्ता को छल, कपट, प्रवन्चना, अन्याय, अत्याचार, शोषण ईर्ष्या, द्वेष, काम-क्रोध आदि आसुरी वृत्तियो मे न दिखाकर सेवा, त्याग, प्रेम, न्याय, समता ऋजुता, सौमनस्य आदि दैवी वृत्तियों में सिद्ध करना।

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रद्धा के जीवन-वृत्तों, कार्यों, आदर्शों, गुणों तथा सिद्धियों द्वारा महाकाव्य के सभी सामान्य

ध्येयों की सिद्धि दिखाई पडती है। श्रद्धा अपने कार्यों एव व्यवहारों से वेदविहित धर्म को कलात्मक ढग से लोकोपयोगी सिद्ध करती है। उसका पतिव्रत धर्म वेदानुकूल है। वह वेदा-विहित हिंसात्मक यज्ञ मे भाग नही लेती। वह वेद-विरुद्ध काम के स्वरूप को ग्रहण नही करती। वह स्वार्थी, लोलुप, अहकारी, कामी, विश्वासहीन, उच्छृङ्खल निष्ठुर मनु के साथ रहते हुए अपने परोपकारिता, विनय, त्याग, सेवा, समर्पण, श्रद्धा संयम समन्वय करुणा भरे स्वभाव तथा उनसे उत्पन्न घटनाओ तथा कार्यों द्वारा 'असतो मा॰ सत गमय' का सदेश कान्तासम्मित ढग से दे रही है। श्रद्धा अपने जीवन द्वारा महान् से महान् मानवीय सम्भावनाओ को पूर्ण करने का पथ बताती है। अखिल विश्व को अपना नीड़ समझना, जगत की मगल कामना बन जाना, विश्व चेतना की प्राप्ति, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे द्वयता की विस्मृति, जग-मगल के लिए ही आँसू बहाना, इस स्वार्थी जगत मे सेवा का व्रत लेकर सदा चलना, सबको सतोष और सुख देकर सबकी दुःख ज्वाला हरने का प्रयत्न करना, जीते जी ससार में इसी जीवन को शाप ताप से मुक्त बना देना, सभी स्थितियों में अखण्ड आनन्द का अनुभव करना आदि जीवन की महान् सम्भावनाओं को श्रद्धा अपने जीवन मे प्राप्त कर लेती है। श्रद्धा अपने व्यावहारिक-जीवन मे विश्व-बन्धुत्व, सबसे मेल स्थापन की भावना, परमार्थ को ही जीवन का लक्ष्य समझना आदि जीवन के कल्पनात्मक आदर्शों को पूर्ण करते हुए पाठकों को उनकी प्राप्ति का पथ दिखाती है। श्रद्धा अपने जीवन के कार्यों तथा व्यावहारों द्वारा जीवन की श्रेष्ठता तथा महत्ता को, छल, कपट, प्रवन्चना, अन्य, अत्याचार, शोषण, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध आदि आसुरी वृत्तियों मे न दिखाकर सेवा, त्याग, प्रेम,

न्याय, सरलता, ऋजुता, सौमनस्य आदि दैवी वृत्तियो मे सिद्ध करती है ।

भारतीय प्राचीन रीति शास्त्रो की दृष्टि से कामायनी के महा-काव्यत्व पर जो सामान्य आक्षेप लगाये जाते है उनके औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार करना आवश्यक है । सामान्यत कामायनी पर निम्नाकित आक्षेप लगाये जाते है ।

कामायनी मे घटनाओं की विविधता, विराटता का अभाव है । पात्रो की सख्या पर्याप्त नही है । चरित्राकरण मे विस्तार नही है । प्रकृति वर्णन एव वस्तु वर्णन मे विविधता एव विशदता का अभाव है । नाटक की सन्धियो का विस्तार नही । नायक का चरित्र बहुत गिरा दिया गया है । प्रारम्भ मे मगलाचरण नही है । मगलाचरण के पश्चात् खल-निन्दा तथा सज्जन शसन नही है । प्रसादजी कामायनी को भावात्मक महाकाव्य का रूप देना चाहते थे । भाव-विस्तार पर प्रमुख दृष्टि रखने के कारण कथानक, पात्र, वस्तुवर्णन आदि तत्त्व गौण पड़ गये हैं । रीति-ग्रन्थो के कुछ स्थूल नियमो के अतिक्रमण का कारण कवि की महाकाव्य-रचना की नवीन पद्धति है । असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि को साहित्य एव समाज की गति-विधि तथा आवश्यकता के अनुसार साहित्य मे नवीन पद्धति के प्रयोग का अधिकार दिया गया है । प्रसाद ने अपने इसी साहित्यिक अधिकार का प्रयोग कामायनी मे नवीन पद्धति के अवलम्बन से किया है ।

आधुनिक युग मे महाकाव्य की रोचकता का मुख्य कारण उस मे वर्णित मानव अन्तर्वृत्तियाँ एवं उनकी आध्यात्मिक नियोजना है । पात्रो का कार्य तो गौण है । प्रबन्ध काव्य मे नाना प्रकार की घटनाओं एव पात्रों का समावेश मानव की सभी प्रकार की प्रति-निधि अन्तर्वृत्तियों के अकन के लिए होता है और उसका

समन्वित लक्ष्य होता है मानव जीवन की यथासाध्य पूर्ण-अभिव्यक्ति। यदि घटनाओं तथा पात्रों के आधिक्य के बिना कोई कवि किसी महाकाव्य में मानव जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति करने मे सफल हो जाय तो स्थूल नियमो का अतिक्रमण दूषण न होकर भूषण ही होगा। चरित्राकरण मे विस्तार उन्ही काव्यो मे होता है जिनमे घटनाओ तथा पात्रो का आधिक्य होता है। दूसरे चरित्राकरण का विस्तार चरित्र-प्रधान महाकाव्य के लिए ही अनिवार्य तत्त्व है। कामायनी मे घटनाओ तथा पात्रो की न्यूनता है। दूसरे यह भाव प्रधान महाकाव्य है। अत महा-काव्य के उद्देश्य प्रकृति तथा विस्तार के अनुसार इसमे चरित्रा-करण का विस्तार सम्भव ही नही था। प्रसादजी ने अन्य महा-काव्यकारो के समान वस्तु वर्णन तथा प्रकृति वर्णन मे सूची गिनाने वाली अथवा ब्यौरेवार वर्णन करने वाली शैली का वर्णन नही किया है। उनके वस्तु वर्णन की शैली प्रगीत काव्य की भावात्मक शैली है, जिसमे किसी वस्तु के मार्मिकतम अंश का ऐसा भावात्मक एव व्यंजनात्मक वर्णन होता है कि वह उसके छूटे हुये अथवा इतिवृत्तात्मक अशो को भी प्रकाशित कर देता है। कामायनी का वस्तु वर्णन तथा प्रकृति वर्णन इसी प्रकार का है। महाकाव्य की प्रकृति के अनुकूल इससे अधिक समीचीन वर्णन प्रणाली सम्भव नहीं थी।

नाटक की सन्धियो का विस्तार घटना प्रधान एव चरित्र प्रधान महाकाव्यों मे सम्भव है। भावात्मक महाकाव्य मे घटनाओ की बहुलता तथा विस्तार के ऊपर कवि की दृष्टि नही होती। जिस महाकाव्य में घटनाओं का विस्तार नहीं होता उसमे नाटक की पंच सन्धियो का विस्तार सम्भव नही। यदि ऐसे महाकाव्य मे कोई कवि इन सन्धियों का समावेश कर दे तो महाकाव्य मे नाट-

कीय तत्त्व की रोचकता आ सकती है। कामायनी में नाटक की सभी सधियों का समावेश तो है पर उनका विस्तार नहीं है।

महाकाव्य में आदर्शवाद की स्थापना के लिए नायक का चरित्र आदर्शरूप मे रखा जाता है। कवि यह कार्य कामायनी में नायिका के चरित्र द्वारा सम्पादित कर रहा है। यथार्थवाद के आग्रह के कारण मनु का स्वरूप कामायनी मे सामान्यस्तर के समीप अथवा गिरा हुआ अकित किया गया है किन्तु उसके साथ कवि अथवा पाठकों का तादात्म्य कभी नहीं होता। अवसर पाने पर कवि उसे कोसने मे उठा नही रखता। इसलिए पाठकों के हृदय का साधारणीकरण मनु के चरित्र के साथ कभी नहीं होता। जहाँ तक मनु का चरित्र गिरा हुआ अंकित है वहाँ तक उसका कुप्रभाव भी विस्तार के साथ वर्णित है। मनु अपने असत् कर्मों के कारण कहीं भी विजय, सफलता, सुख, सन्तोष, यश आदि नहीं प्राप्त करते। अत. उनके असत् कर्मों को पढकर पाठकों के हृदय में घृणा ही उत्पन्न होती है, प्रेम नहीं। पुराने महाकाव्यों में असत् कर्म के स्वरूप तथा उनके परिणाम प्रतिनायक के चरित्र द्वारा दिखाये जाते थे। कवि ने अपने सीमित क्षेत्र के कारण पात्रों की सख्या के अभाव में उसे नायक के चरित्र द्वारा ही दिखाने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थारम्भ में मगलाचरण देने की प्रथा पुराने महाकाव्यों में दिखाई पड़ती है। इस वैज्ञानिक युग मे हिन्दीवाले उस पुरानी प्रथा को छोड़ने की प्रवृत्ति दिखा रहे हैं। प्रसादजी ने भी कामायनी में मंगलाचरण का प्रयोग किये बिना ही कथा का आरम्भ पहले ही छन्द से कर दिया है किन्तु मगलाचरण के अभाव में महाकाव्य की प्रकृत शोभा की क्षति नहीं हुई है। कामायनी मे खल-निन्दा अथवा सज्जन-शसन भी नहीं है। खल-निन्दा

अथवा सज्जन-शसन से महाकाव्य के आरम्भ मे इतिवृत्तात्मकता का समावेश हो जाता है जो प्रसाद के महाकाव्य की भावात्मक प्रकृति के विरुद्ध था इसलिए उन्होने उसे छोड दिया है। महा-काव्य की सच्ची कसौटी छन्द-विधान नही, सर्ग सस्था नही, मगलाचरण नही, खल-निन्दा या सज्जन शमन नही, प्रकृति वर्णन या वस्तुपरिगणन नही, पात्रो या घटनाओ की बहुलता नही। ये सब तो उसके बाह्य अग है। उसकी आत्मा है जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति जिसमे जीवन का चिरन्तन सघर्ष, विषम परिस्थितियो का प्रदर्शन मानव-हृदय क नाना भावो का वर्णन, जीवन की किसी महान समस्या का समाधान, लौकिक तथा अलौकिक जीवन की सयोगात्मक समन्विति, मानव जीवन की भव्यतम वास्तविकता, एव परमोच्च चेतना, अकित रहती है। कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी महाकाव्य की इस अनरग कसौटी पर पूर्ण सफल उतरती है।

परिशिष्ट [८]

कामायनी की कथा

देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध विलासिता एव अहम-हमिका के फलस्वरूप खण्ड प्रलय उपस्थित हुआ। उस जल-प्रलय मे भारत का अधिकाश भाग जलमग्न हो गया। मनु तथा कुछ और प्राणी उस प्रलय के बाद बच रहे। उन्हे मनु, अपनी नाव पर लेकर, लहरों के थपेडे खाते-खाते हिमवान प्रदेश मे मनोरव-सर्पण नामक स्थान पर पहुँचे। उस स्थान पर पहुँचने मे उन्हे एक विराट मत्स्य के शराकाघात से बड़ी सहायता मिली। मनु, हिमगिरि की उत्तुङ्ग चोटी पर बैठे हुए देव सृष्टि के विध्वंस की बाते सोचते-सोचते शिथिल तथा निराश हो जाते है। इतने मे ही वर्षा का वेग कम होने लगा। आकाश से बादल फटने लगे। धीरे-धीरे वर्षा बन्द होने पर जल पीछे हट गया। पृथ्वी निकलने लगी। उषा भी हँसती हुई प्रकट हुई। वनस्पतियाँ उगती हुई दिखाई दी। प्रकृति भी प्रसन्न बदन दिखाई दी। प्रकृति के इस पुलकित स्वरूप को देखकर मनु के हृदय में आशा का सचार हुआ, सृष्टि-निर्माण की बलवती इच्छा उत्पन्न हुई। अत वे निकट के एक गुहा में अपना स्थान बनाकर अग्निहोत्र तथा पाकयज्ञ करने लगे। वे यज्ञ के पश्चात् अग्निहोत्र—अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख आते थे। इसी अन्न को देखकर निकट मे ही प्राणियो के रहने का अनुमान कर श्रद्धा उनके पास पहुँची। श्रद्धा के आगमन के पूर्व मनु निराश, उद्भ्रान्त तथा किकर्तव्यविमूढ हो रहे थे। श्रद्धा के आते ही वे उसका अगाध विश्वास, सेवा, दया, स्नेह, माया, ममता, मधुरिमा आदि पाकर आशा एवं

उत्साह से भर गये उनके गतिहीन जीवन में गति आ गई। श्रद्धा के मधुर समर्पण से मनु के हृदय मे काम-वासना उत्पन्न हुई जो आगे चलकर साहचर्य से परिपक्व होकर परिणय के मधुर सम्बन्ध रूप मे प्रकट हुई। प्रेम के मधुर सम्बन्ध में आबद्ध होकर दोनों प्रेमी कुछ काल तक अपना गृहस्थ-जीवन सुख एव शान्ति से व्यतीत करते है। इसी बीच श्रद्धा गर्भवती हो जाती है। जल-विप्लव से बचे हुये असुर-पुरोहित-किलाताकुलि की प्रेरणा से मनु हिंसापूर्ण पशु-यज्ञ करते हैं। उस हिंसापूर्ण यज्ञ मे श्रद्धा द्वारा पालित पशु का बध होता है। इस हिंसा से श्रद्धा कुछ काल के लिए मनु से रूठ जाती है, किन्तु उसके सरल-स्वभाव के कारण मनु उसे मनाने मे सफल हो जाते हैं। कुछ काल पश्चात श्रद्धा आसन्नप्रसवा होने के कारण अपनी भावी सन्तान के लिए लता, कुटीर आदि का निर्माण करती है। गर्भ स्थिति के पूर्व श्रद्धा, जैसे प्यार भरे शब्द, प्रेम भरे आकुल आलिङ्गन एव चुम्बन मनु को देती थी, वैसा करने में अब असमर्थ है। इसका कारण श्रद्धा मे प्रेम का अभाव नही वरन् परिपक्वता है किन्तु मनु अपनी अतृप्त विलास वृत्ति के कारण उसे प्रेम का अभाव ही समझते हैं। वे चाहते हैं कि श्रद्धा की ऐन्द्रिक चेष्टायें एव आकुलतायें पूर्ववत् बनी रहे। उनका सारा भाव एव प्रेम एकमात्र उन्हीं पर स्थित रहे, तनिक भी इधर-उधर न बँटे। जब वे देखते है कि श्रद्धा पशुओं के बच्चों को प्रेम से पुचकारती है, अपनी भावी सन्तति की सुख-क्रीडा का आयोजन करती है तब उनके मन मे ईर्ष्या उत्पन्न होती है और वे श्रद्धा को उसी गुफा में छोडकर निर्बाध ऐन्द्रिक सुख की खोज मे चल देते है और भटकते-भटकते उस सारस्वत प्रदेश मे पहुँचते है, जहाँ देवासुर संग्राम हुआ था। एकाकी जीवन पथ पर चलते हुए मनु के हृदय मे ग्लानि से श्रद्धा के जीवन की झाँकी

सजीव हो उठती है और वे सोचते है कि उन्होंने श्रद्धा के साथ अत्याचार किया। वे श्रद्धा के अमृत-प्रेम को समझने में असमर्थ हुए। उनके मन मे पश्चात्ताप की तरह तरह की भावनाएँ उठती तथा विलीन होती है। कभी वे सोचते है कि मरुत की तरह उनकी गति अबाध है। कभी वे ससार के प्रत्येक परिवर्तन के आवेग मे अनङ्ग की आकुलता देखते है, फिर सोचते है कि अब तो कोई उपाय शेष नहीं है। इस प्रकार निज निर्मित पथ के पथिक मनु एक दिन उसी सारस्वत प्रदेश मे नयनमहोत्सव की चन्द्रिका इड़ा का दर्शन करते है। इड़ा के सौन्दर्याकर्षण से सजग होकर उनकी अतृप्त-कामवृत्ति असीम हो उठती है। उधर इड़ा सारस्वत-प्रदेश की राष्ट्र स्वामिनी होते हुए भी अपने वैयक्तिक जीवन में एकाकीपन का अनुभव करती है। अत' वह मनु जैसे सबल स्वस्थ एवं सुन्दर व्यक्ति को निर्जन स्थान मे देखकर अपने हृदय का मधुर भार मन ही मन उनके ऊपर रख देती है। इडा की आज्ञानुसार मनु राष्ट्रमत्री बनने पर बुद्धिवाद का सहारा लेकर सारस्वत प्रदेश की शासन व्यवस्था मे रत होते है। देश मे शान्ति स्थापित करने के लिए, उसे सबल सुखी एव समृद्धशाली बनाने के लिए नियमों का सुन्दर विधान बनाते है। इस प्रकार वे सारस्वत प्रदेश के प्रजापति-रूप से जनता के सामने उपस्थित होते है। शासन के सूत्रधार बनने पर भी, नियमों के स्वय विधाता होने पर भी अपनी असीम भोग वृत्ति के कारण स्वय वासना के शिकार बन जाते है। बुद्धिवाद के ससर्ग से उनका भोगवाद पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। वे अतिचार अनाचार एवं निरङ्कुशता की मूर्ति बन जाते है। दूसरों पर नियन्त्रण रखने की इच्छा रखते हुए भी स्वय स्वच्छन्द रहना चाहते है, अनुचित-उचित विचार न रखने वाली राजभक्ति चाहते है। उनकी कामुकता भोगवृत्ति के आधिक्य

के कारण इतनी असीम हो उठती है कि वे इडा के वैयक्तिक एवं गुप्त प्रेम को समाज के सामने व्यक्त करना चाहते है। इडा बुद्धि-वादिनी है इसलिए वह अपने वैयक्तिक प्रेम को समाज के समक्ष अभिव्यक्त करने के लिए तैयार नही होती। अन्ततोगत्वा मनु अपने प्रेम को स्वच्छन्द रूप मे अभिव्यक्त करने के लिए इडा रानी पर दिनदहाड़े बलात्कार करते है। अतः मनु के विरुद्ध सारी प्रजा विद्रोह कर देती है। किलाताकुलि जैसे मनु के पुरोहित भी प्रजा का साथ देते है। मनु युद्ध मे घायल होकर मूर्छित अवस्था मे गिर पड़ते है। उधर श्रद्धा इस विप्लव का भयकर स्वप्न देख कर अपने पुत्र मानव को साथ लेते हुए मनु को खोजते खोजते उस युद्ध क्षेत्र मे पहुँचती है जहाँ मनु घायल अवस्था मे पड़े हैं और इड़ा उनकी परिचर्या कर रही है। मनु श्रद्धा को देखकर क्षोभ, ग्लानि, लज्जा और पश्चात्ताप से भर जाते है और फिर उन सुन्दर दिनो की याद करते है जब श्रद्धा के मिलने से उनका व्यथित, अशान्त एव आकुल जीवन उल्लास आनन्द, शाति तथा सतोष से भर गया था। जल पीकर कुछ स्वस्थ होने पर मनु श्रद्धा से उस देश से बाहर ले चलने के लिए प्रार्थना करते है, क्योकि वे डरते है कि कहीं उनका अस्थाई मन श्रद्धा को फिर खो न दे। श्रद्धा कहती है—ठहरो, कुछ बल आ जाने दो, तब तुम्हें लिवा ले चलूँगी। रात मे जब मनु श्रद्धा के प्रति किये हुए अपने अपराधों, अन्यायों एव अत्याचारो को याद करते है तो उनका हृदय लज्जा एव ग्लानि से इतना भर जाता है, अन्यायो को स्मरण कर दु.ख से इतना आकुल हो जाता कि श्रद्धा के सामने फिर मुँह दिखाने की हिम्मत नहीं होती, इसलिए रात मे चुपचाप वहाँ से भाग जाते है। इधर श्रद्धा, मानव और इड़ा का परिणय सम्बन्ध स्थापित कर, राष्ट्र-सञ्चालन के लिए दोनों को सारस्वत प्रदेश में छोड़कर मनु, को खोजने के लिए फिर बाहर

निकल जाती है और अन्त में उन्हे सरस्वती तट पर एक गुफा मे साधना मे लीन पाती है। मनु श्रद्धा की विश्ववत्सला मूर्ति देखकर विस्मित हो जाते है और उसके भीतर विश्वमातृ का दर्शन करते ही उन्हे चारो ओर शिव का ताण्डव-नृत्य दिखाई देने लगता है। नटराज का ताण्डवनृत्य देखने के पश्चात् वे श्रद्धा से प्रार्थना करते है कि वह उन्हे अपने चरणो का सम्बल देकर वहाँ ले चले जहाँ पाप-पुण्य का बन्धन दूर हो जाता है, मिथ्यावाद जनित अज्ञान मिट जाता है, आनन्द का दर्शन होने लगता है। श्रद्धा मनु को साथ लिए हुए कैलास की ओर चल देती है। रास्ते मे भयकर गड्ढे एव खाइयाँ दिखाई देती है। इन कठिनाइयो से मनु का उत्साह भग्न हो जाता है और फिर वे श्रद्धा से लौट चलने के लिए प्रार्थना करते है। श्रद्धा उनसे कहती है कि यहाँ से लौट चलना हॅसी खिलवाड़ नही है। हम लोग इतनी दूर चले आये है जहाँ से लौट चलना असम्भव है। फिर श्रद्धा मनु को उत्साहित करके पथ पर आगे ले चलती है। कुछ काल पश्चात् मनु को वह लोक दिखाई पड़ता है जो दिवारात्रि नक्षत्रो से परे है। कुछ देर बाद मनु को तीन बिन्दु-इच्छा, ज्ञान और क्रिया; दिखाई पड़ते है। मनु के पूछने पर श्रद्धा, उनका रहस्य अलग-अलग समझाती है, फिर श्रद्धा के हँसते ही तीनों बिन्दु एक मे मिल जाते है और फिर चारो ओर आनन्द ही आनन्द छा जाता है। मनु उस आनन्द का दर्शन करते ही उसमे समाधिस्थ हो जाते है। श्रद्धा अपनी अर्चना का अर्घ्य लिए उनके सामने पूजार्थ खडी हो जाती है। इसी समय सारस्वत-प्रदेश के सभी निवासी, इडा और मानव के साथ तीर्थयात्रा करते हुए इस स्थान पर पहुँच जाते है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा सभी पात्र अखण्ड आनन्द मे मग्न हो जाते है।
